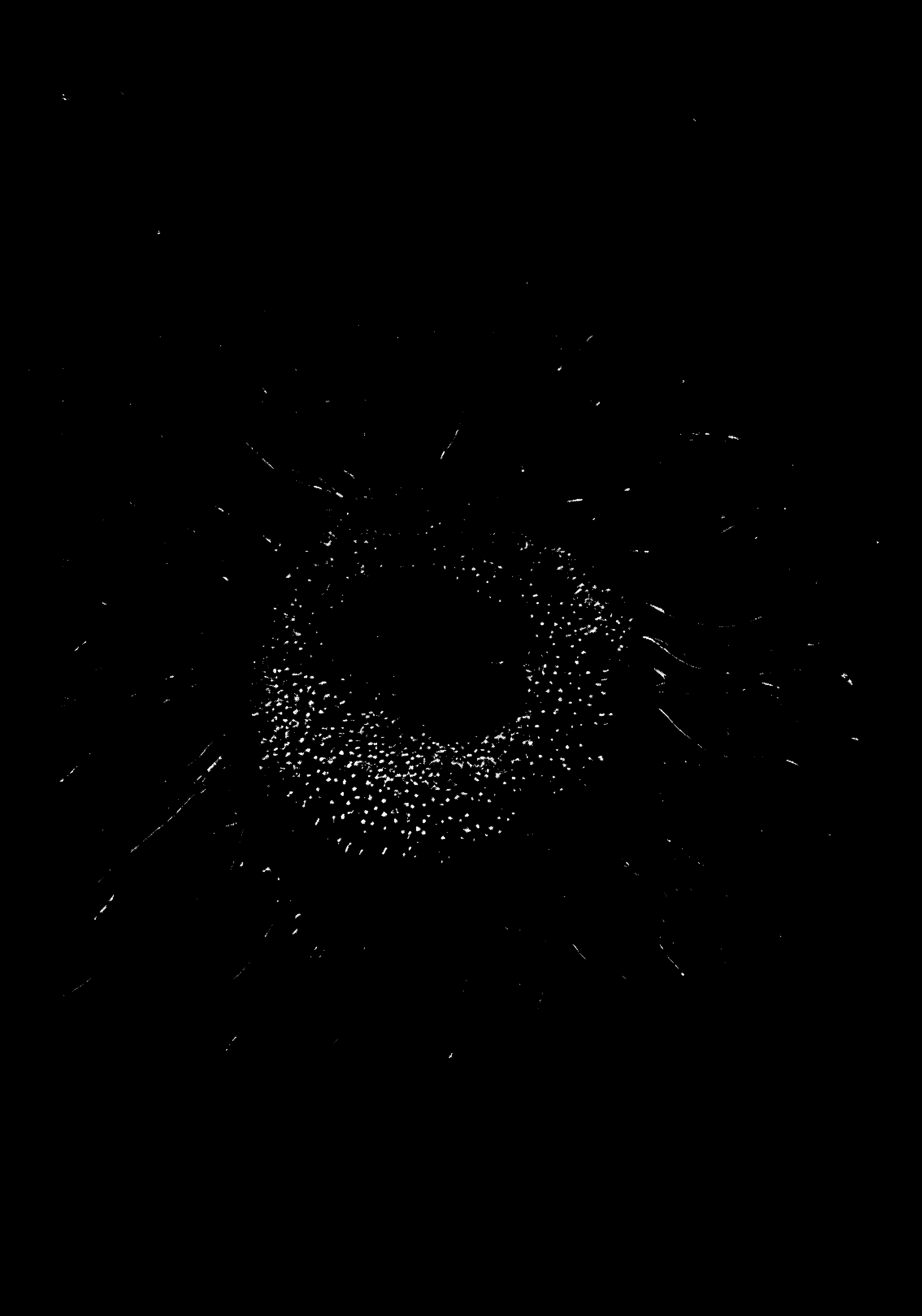

सम्पादकीय

राष्ट्रहित सर्वोपरि

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि देश की आर्थिक उन्नति में कृषि और कृषकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। न सिर्फ अनेक उद्योग कृषि पर आधारित हैं, अपितु कतिपय कृषि जिन्सों के निर्यात से बहुमूल्य विदेशी मुद्रा का भी अर्जन होता है। चाहे नकदी फसल हों या खाद्यान्न, दोनों हमारी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

साथ ही यह भी सर्वविदित है कि कृषि पर आधारित भारतीय अर्थ-व्यवस्था के मेरुदंड कृषक को उसका प्राप्य सदा नहीं मिल पाया है। स्वतंत्रता से पूर्व उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। अंग्रेज भारतीय किसान की स्थिति के प्रति सर्वथा उदासीन थे और उनकी नीतियां शोषणकारी थीं। छोटे कृषक तो पूर्णतया जमींदारों और महाजनों के शिकंजे में फंसे रहते थे। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, ओले, पाले और टिड्डी दल आदि दैवी विपत्तियों में तो उनकी हालत और भी बिगड़ जाती थी।

यह भी निर्विवाद तथ्य है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कृषि और कृषकों की उन्नति के लिए सरकार ने अनेक ठोस कदम उठाए। जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया, इधर-उधर बिखरी छोटी-छोटी जोतों को लाभकारी बनाने के लिए चकबन्दी की गई, किसानों को उन्नत बीज, सुधरे औजार, रासायनिक खाद आदि मुहैया कराने के लिए प्रभावी व्यवस्था की गई। किसानों को न केवल कृषि के आधुनिक तरीकों से अवगत कराया गया, बल्कि उनके लिए सिंचाई की बड़े पैमाने पर व्यवस्था की गई, पम्पसेट लगवाने, कुएं खोदने आदि के लिए कम ब्याज पर ऋण दिए गए।

इसके अलावा छोटे और सीमांत किसानों के उत्थान के लिए तो विशेष योजनाएं शुरू की गईं। उनकी आय बढ़ाने के लिए उन्हें पशुपालन, मुर्गीपालन, मत्स्यपालन आदि सहायक धंधे अपनाने के लिए प्रेरित किया गया और इस काम में पर्याप्त सहायता दी गई। सूखा बहुल क्षेत्रों के किसानों की मदद के लिए भी विशेष योजना बनी। खेतिहर मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिए भी अनेक प्रभावी कदम उठाए गए। गांवों के बिजलीकरण की दिशा में प्रचुर काम हुआ। प्रौढ़ शिक्षा का भी प्रचार-प्रसार हुआ।

किन्तु यह भी निर्विवाद है कि उपर्युक्त सब बातों के बावजूद ग्रामीण भारत, विशेषकर किसान भाइयों के उत्थान के लिए अभी भी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। यह हर्ष का विषय है कि सरकार ग्रामीण भारत के समग्र विकास के लिए पूर्ण निष्ठा से कृत संकल्प है, लेकिन यह खेद का विषय है कि कुछ राज्यों में किसान भाइयों ने अपनी उपज के मूल्य को लेकर आंदोलन का रास्ता अपनाया है।

इसमें दो राय नहीं है कि किसान भाइयों को उनके श्रम का, उनकी उपज का उचित मूल्य मिलना चाहिए। बढ़ती हुई महंगाई से वे भी उसी तरह प्रभावित हैं जैसे शहरी लोग। किन्तु आंदोलन का मार्ग अपनाने से समस्या का हल नहीं हो सकता, अपितु देश की प्रगति का मार्ग अवश्य अवरुद्ध हो सकता है।

प्रधानमंत्री ने किसान भाइयों से आंदोलन का मार्ग त्याग कर सहयोग देने की अपील की है। किसान भाइयों को प्रधानमंत्री की सलाह पर अनुसरण करना चाहिए। भारतीय कृषक समुदाय सदा से राष्ट्रवादी रहा है और आशा है कि अब भी वह राष्ट्रहित को सर्वोपरि महत्व देगा। □

मजदूर मंजिल

'कुरुक्षेत्र' के लिए मौलिक लेख, कहानी, एकांकी, कविता, संस्मरण, हास्य-व्यंग्य चित्र आदि भेजिए।

●

अस्वीकृत रचनाओं की वापसी के लिए टिकट लगा व पता लिखा लिफाफा साथ आना आवश्यक है।

●

'कुरुक्षेत्र' की एजेन्सी लेने, ग्राहक बनने, पता बदलने या अंक न मिलने की शिकायत बिजनेस मैनेजर, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 से कीजिए।

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार : सम्पादक कुरुक्षेत्र (हिन्दी), ग्रामीण पुर्ननिर्माण मन्त्रालय, 467, कृषि भवन, नई दिल्ली के पते पर करें।

●

एक प्रति 1 रु० : वार्षिक चंदा 10 रु०

●

दूरभाष : 382406

सम्पादक : देवेन्द्र भारद्वाज

उपसम्पादक : कु० शशि चावला

आवरण पृष्ठ : परमार

कुरुक्षेत्र

ग्रामीण पुर्ननिर्माण का प्रमुख मासिक

वर्ष 26 **माघ–फालगुन 1902** **अंक 4**

इस अंक में : **पृष्ठ संख्या**

कृषि नियोजन : निष्पादन और क्षमता 2
डा० बद्री विशाल त्रिपाठी

आदिवासी उत्थान कैसे संभव ? 6
ईश्वरलाल पं० वैश्य

कृषि अर्थव्यवस्था की समयोचित मांग : फसल बीमा 8
राजेन्द्र कुमार अग्रवाल

गांवों में बैंकिंग सेवा का स्वरूप बदले 10
प्रबोध कुमार गोविल

आदिवासी इलाकों में परिवार नियोजन जरूरी 11
शोभाराम श्रीवास्तव

दालों का संकट कैसे दूर हो 13
गंगाशरण सैनी

मीणा जनजाति का विकास : एक अध्ययन 19
महेन्द्र कुमार घड़ोलिया

ग्रामीण विकास : एक प्रयोग 20
डा० शान्ति स्वरूप गुप्ता

ग्रामीण विकास और पंचायती राज 24
श्रीराम तिवारी

स्थायी स्तम्भ

केन्द्र के समाचार : कहानी : कविता : पहला सुख निरोगी काया : साहित्य समीक्षा आदि।

कृषि नियोजन : निष्पादन और क्षमता

डा० बद्री विशाल त्रिपाठी

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का सर्वाधिक वृहद और महत्वपूर्ण व्यवसाय है। देश की 72 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या अपनी आजीविका के लिए कृषि क्षेत्र पर निर्भर है। वर्ष 1979-80 के आर्थिक सर्वेक्षण के अनुसार देश के शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन में कृषि और सम्बद्ध व्यवसाय का योगदान 44.9 प्रतिशत है। कृषि क्षेत्र देश की समस्त जनसंख्या के लिए खाद्यान्न पूर्ति का स्रोत होने के साथ-साथ विभिन्न आधारिक उद्योगों यथा चीनी, सूती वस्त्र, जूट और तिलहन के लिए कच्चे पदार्थ की पूर्ति का आधार है। भारतीय निर्यात के कुल मूल्य का 45 से 50 प्रतिशत भाग कृषि क्षेत्र की वस्तुओं के निर्यात से प्राप्त होता है।

स्वतंत्रता से पूर्व स्थिति

स्वतंत्रता से पूर्व विदेशी शासकों ने अपनी औपनिवेशिक नीति के कारण कृषि विकास हेतु कोई ठोस प्रयास नहीं किया। चूंकि तत्कालीन दोषपूर्ण भूधारण पद्धतियों में वास्तविक काश्तकार जोत का स्वामी न था, अतः वह जोत में किसी भी प्रकार के स्थायी सुधार के प्रति उदासीन था। वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में ब्रिटिश सरकार ने कृषि विकास हेतु कुछ प्रयास किए जो प्रायः एकांगी प्रकृति के थे। 1901 में गठित सिंचाई आयोग की सिफारिशों के आधार पर कम वर्षा वाले और सूखाग्रस्त क्षेत्रों के लिए सुरक्षात्मक सिंचाई सुविधाओं के प्रसार पर जोर दिया गया। सूखा आयोग की सिफारिशों के आधार पर सहकारी समिति अधिनियम, 1904 लागू हुआ। कृषि विकासार्थ सुझाव देने के लिए 1926 में नियुक्त शाही कृषि आयोग ने अपना प्रतिवेदन 1927 में प्रस्तुत किया जिसमें कृषि उत्पादन, पशुपालन, मत्स्यपालन, कृषि वित्त और सहकारिता के लिए उपयोगी सुझाव दिए गए, लेकिन खाद्यान्नों की हालत लगातार गिरती गई। अस्तु इसे सुधारने के लिए सरकार ने 1942 में "खाद्य उत्पादन सभा" बुलाई जिसमें पारित प्रस्तावों के आधार पर "अधिक अन्न उपजाओ" अभियान आरंभ किया गया। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य व्यापारिक फसलों की ओर से कृषि भूमि का खाद्यान्न फसलों की ओर स्थानान्तरण, वर्तमान परती और कृषि योग्य बेकार पड़ी भूमि पर खाद्यान्न फसलों का प्रसार और गहन कृषि को प्रोत्साहन देना था। इन प्रयासों के फलस्वरूप खाद्यान्न फसलों के अंतर्गत क्षेत्र बढ़े लेकिन इनके उत्पादन परिणाम नगण्य ही रहे। समष्टि रूप से अविभाजित भारत में सब कृषि वस्तुओं का उत्पादन सूचकांक 1904-05 के 100 की तुलना में 1946-47 में बढ़कर 112.6 ही हो सका। लेकिन खाद्यान्नों का उत्पादन सूचकांक आधार वर्ष 1904-05 के 100 की तुलना में 1946-47 में घटकर 95.7 हो गया। खाद्यान्नों की उत्पादिता में तो अत्यंत गिरावट आई। खाद्यान्न फसलों का उत्पादिता सूचकांक 1904-05 के 100 की तुलना में 1946-में घटकर 84 रह गया। इससे यह प्रतीत होता है कि कृषि उत्पादन में जो नाममात्र की वृद्धि हुई वह मुख्यत गैर-खाद्यान्नों की उपज बढ़ने के कारण हुई और यदि खाद्यान्न फसलों के अंतर्गत क्षेत्र में वृद्धि न हुई होती तो स्थिति अत्यंत खराब हो गई होती।

कृषि उत्पादन की इस बिगड़ती हुई स्थिति के लिए उत्तरदायी ब्रिटिश सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति रही है। इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण उद्योगों का विनाश होता गया और कृषि पर जनसंख्या का दबाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस नीति ने भारत को कच्चे पदार्थ की पूर्ति का स्रोत और ब्रिटेन में बनी वस्तुओं की मंडी बनाकर रख दिया। ब्रिटिश सरकार ने अपने शासन की जड़ें मजबूत करने के लिए भू-स्वामित्व में मध्यस्थ-प्रथा को प्रोत्साहित किया जिसमें वास्तविक काश्तकार भूमि का स्वामी न था। वह जमींदार की कृपा तक ही कृषि कार्य कर सकता था। इसके परिणामस्वरूप लगान उपजीवी जमींदार जहां अपने विलासी जीवन में मस्त था, वहां वास्तविक काश्तकार गरीबी, बेरोजगारी और कर्ज तथा बेगार के बोझ से दबता जा रहा था। ब्रिटिश सरकार की भूमि व्यवस्था के प्रति मनः स्थिति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जहां शाही कृषि आयोग की स्थापना कृषि विकासार्थ सुझाव देने के लिए हुई थी वहां उसे यह चेतावनी भी दी गई थी कि भू-स्वामित्व और काश्तकारी की वर्तमान व्यवस्था के संदर्भ में कोई भी सुझाव देना आयोग के कार्य क्षेत्र के बाहर होगा। स्पष्टतः कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था में भूमि सुधारों पर ध्यान दिए बिना कृषि सुधार की बात करना एक भुलावा मात्र लगता है।

योजना काल में कृषि विकास

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कृषि व्यवसाय ही भारतीय जनता की आजीविका का एकमात्र आधार था, किन्तु उसकी हालत अत्यंत खराब थी। देश के विभाजन के फलस्वरूप देश के हिस्से में आबादी अधिक आई लेकिन निर्वाह हेतु भूमि संसाधन अपेक्षाकृत कम मिले। अधिक उर्वर और सिंचित क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए। आधारिक व्यवसाय होने के कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह अनुभव किया गया कि देश का आर्थिक विकास कृषि और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में ही निहित है। अतः सर्वप्रथम 1947-48 में "अधिक अन्न उपजाओ" अभियान को पुनर्जीवित किया गया और अगले 5 वर्षों के लिए 40 लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य रखा गया। 1951 में आरंभ होने वाली प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि विकास को योजना के वरीयता क्रम में सर्वोपरि स्थान दिया गया तथा अगली पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि क्षेत्र के विकासार्थ किया जाने वाला कुल विनियोग उत्तरोत्तर बढ़ता गया। सार्वजनिक क्षेत्र के कुल व्यय का प्रथम पंचवर्षीय योजना में 36.9 प्रतिशत (724 करोड़

रुपये) द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 20.6 प्रतिशत (948 करोड़ रुपये), तृतीय पंचवर्षीय योजना में 20.5 प्रतिशत (1754 करोड़ रुपये), वार्षिक योजनाओं में 23.8 प्रतिशत (1578 करोड़ रुपये) और चतुर्थ योजना में 24.4 प्रतिशत (3948 करोड़ रुपये) कृषि और सम्बद्ध कार्यक्रमों पर व्यय किया गया। पांचवीं पंचवर्षीय योजना में कृषि और सम्बद्ध कार्यक्रमों पर कुल 8528 करोड़ रुपये व्यय किए गए। कृषि क्षेत्र में आधारिक संरचना निर्मित करने तथा उत्पादन और उत्पादिता बढ़ाने के लिए किया जाने वाला उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ यह विनियोग आत्मनिर्भरता प्राप्त करने और पिछड़ेपन के निवारणार्थ एक सराहनीय प्रयास माना जा सकता है। इस शताब्दी के प्रथम अर्द्धांश में भारतीय कृषि की संवृद्धि दर मुश्किल से 0.25 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। अस्तु इस शताब्दी के प्रथम 45 वर्षों में कृषि उत्पादन में कुल 12.6 प्रतिशत की ही वृद्धि हो सकी जबकि इस अवधि में जनसंख्या में 37.9 प्रतिशत की कुल वृद्धि हुई। योजनाकाल की 1951-52 से 1978-79 की अवधि में कृषि उपज में औसतन 2.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई। अतीत की तुलना में यह वृद्धि दर अत्यंत ऊंची है। कृषि उपज में वृद्धि की यह दर योजना काल की इस अवधि में हुई जनसंख्या वृद्धि, दर से भी अधिक रही है।

इस काल में जनसंख्या वृद्धि दर औसतन 2.1 प्रतिशत रही है। इस दृष्टि से योजना काल की कृषि उपज वृद्धि दर सराहनीय रही है। कृषि विकास प्रयासों के दृष्टिकोण से योजनाकाल को दो विशिष्ट अवधियों, 1951-52 से 1964-65 की अवधि और 1965-66 के बाद की अवधि में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम अवधि में, जिसमें संस्थागत सुधारों पर अधिक जोर दिया गया, कृषि उपज की वृद्धि दर 3.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही है। दूसरी अवधि में 1965-66 से कृषि विकासार्थ तकनीकी सुधारों पर अधिक जोर दिया गया और इसमें कृषि उपज की वृद्धि दर 2.6 प्रतिशत वार्षिक रही है। परन्तु मुख्य बात यह रही है कि प्रथम अवधि में कृषि उपज की वृद्धि में कृषि क्षेत्र की वृद्धि का योगदान अधिक रहा है जबकि दूसरी अवधि में मुख्य योगदान उत्पादिता वृद्धि का रहा है। 1951-52 से 1964-65 की अवधि में कृषि उत्पादिता में 1.4 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई जबकि 1965-66 से 1978-79 की अवधि में कृषि उत्पादिता की वृद्धि दर 1.7 प्रतिशत रही है।

खाद्यान्नों के उत्पादन में सर्वाधिक सफलता गेहूं की फसल में मिली है। 1950-51 से 1979-80 की अवधि में गेहूं की कुल उपज में 350 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके अतिरित धान, गन्ना और कपास के उत्पादन भी इस अवधि में दुगने से अधिक हो गए। फसल संरचना में भी गुणात्मक सुधार हुआ। श्रेष्ठ अनाजों यथा गेहूं और चावल की फसलों के अंतर्गत क्षेत्र बढ़े। अब तक की विकास प्रक्रिया के फलस्वरूप आज हम अपनी 65 करोड़ जनसंख्या के लिए खाद्यान्न पूर्ति करने के साथ-साथ निर्यात करने की स्थिति में हो गए हैं। खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करके न केवल हम उपयोगी विदेशी मुद्रा की बचत कर रहे हैं, बल्कि इस आरोप से भी मुक्त हो गए हैं कि कृषि प्रधान देश होते हुए भी भारत को खाद्यान्नों के लिए विदेशों का मुंह देखना पड़ रहा है।

कृषि विकास के आधार

योजनाकाल में कृषि के स्वरूप और उसकी संरचना में जो परिवर्तन आया उसके आधारभूत तत्वों को मुख्यत: दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक संस्थागत उपाय और दूसरे तकनीकी उपाय। संस्थागत उपायों में सर्वप्रमुख प्रयास भूधारण पद्धति में सुधार करना रहा है। कृषि अर्थव्यवस्था में भूधारण पद्धति आधारभूत होती है। इससे भूमि का स्वामित्व और भूमि के प्रति कृषक के दायित्व का निर्धारण होता है। यह संकेत करती है कि कृषक भूमि से मालिक के नाते सम्बद्ध है या मात्र श्रमिक के नाते। ब्रिटिश शासन से पहले भारत में जो परंपरागत भूमि व्यवस्था कायम थी उसमें जमीन पर किसानों का स्वामित्व था और सरकार को उपज का एक अंश लगान के रूप में दिया जाता था। मुगल शासन काल में केवल मालगुजारी एकत्र करने वाला जमींदार ब्रिटिश शासन काल में भूमि का स्वामी मान लिया गया तथा वास्तविक काश्तकार का भूमि से स्वामित्व समाप्त हो गया। इसके परिणामस्वरूप वास्तविक काश्तकार और सरकार के बीच लगान उपजीवी मध्यस्थों की एक लंबी श्रृंखला निर्मित हो गई। वर्ग-चेतना के अभाव, शिक्षा की कमी और दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण किसान जमींदारों के अत्याचारों को भी सहन करता रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद कृषि अर्थव्यवस्था के कोढ़ यानी मध्यस्थ प्रथा के निवारणार्थ प्रयास किए गए। इस दिशा में शुरुआत बिहार जमींदारी उन्मूलन अधिनियम, 1950 से हुई। उत्तर प्रदेश में जुलाई, 1952 से जमींदारी उन्मूलन और भूमि व्यवस्था अधिनियम प्रभावी हुआ। जमींदारी उन्मूलन काननों द्वारा राज्य सरकारों ने मध्यस्थों को मुआवजा देकर भूमि अपने अधिकार में ले ली तथा खेती में लगी हुई भूमि के अतिरिक्त जंगलों और परती भूमियों पर भी राजकीय स्वामित्व हो गया। कुल मिलाकर 1730 लाख एकड़ भूमि राज्य के स्वामित्व में आ गई और मध्यस्थों को कुल 570 करोड़ रुपये क्षतिपूर्ति दी गई। इन अधिनियमों के परिणामस्वरूप कृषक का सरकार से सीधा संबंध स्थापित हो गया और वे सामंतवादी शोषण के चंगुल से मुक्त हो गए। भू-स्वामित्व मिल जाने के कारण कृषक कृषि कार्य और उसके स्थायी सुधार में रुचि लेने लगे जिससे कृषि विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

संस्थागत सुधारों में दूसरा महत्वपूर्ण प्रयास चकबन्दी अधिनियमों का पारित और क्रियान्वित किया जाना रहा है। जमींदारी उन्मूलन के साथ-साथ विभिन्न राज्यों में चकबन्दी के अधिनियम भी पारित किए गए। चकबंदी प्रयासों के फलस्वरूप किसानों की विभिन्न स्थानों पर बिखरी जोतों को एक या दो स्थानों पर लाने का प्रयास किया गया। विकास और अन्वेषण संस्थान, उत्तरप्रदेश ने मुजफ्फरनगर और सुलतानपुर जिलों में चकबंदी के प्रभावों का मूल्यांकन किया जिससे यह पता चलता है कि नियंत्रित क्षेत्र की तुलना में उपचारित क्षेत्र में कृषि उपज में 1.5 गुना वृद्धि हुई और कृषक अपनी जोत पर स्थायी सुधार हेतु तत्पर है। देश में 1978-79 तक लगभग 450 लाख हेक्टेयर भूमि क्षेत्र की चकबंदी की जा चुकी है। हरियाणा पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में चकबंदी कार्य पूरा हो चुका है। कतिपय राज्यों यथा केरल और तमिलनाडु को छोड़कर अधिकांश राज्यों ने चकबन्दी अधिनियम बना लिए हैं।

संस्थागत सुधारों की प्रक्रिया में तीसरा महत्वपूर्ण प्रयास सामुदायिक विकास और पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना है। विकास और कल्याण संबंधी कार्यक्रमों में ग्रामवासियों को सहयोगी बनाने के लिए 1952 में सामुदायिक विकास कार्यक्रम 55 मार्गदर्शी योजनाओं से आरंभ किया गया। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का मुख्य तत्व विकास योजनाओं के निर्माण, उनके लिए वित्तीय प्रबन्धन और कार्यान्वयन में लोगों की सहभागिता है। 1952 में सामुदायिक विकास की प्रत्येक परियोजना के साथ 1300 वर्ग कि० मी० विस्तार क्षेत्र था और प्रत्येक परियोजना में लगभग 300 गांव सम्मिलित थे। 1958 में इस ढांचे में परिवर्तन आया और अब एक सामुदायिक विकास खंड में सामान्यतः 110 गांव और 92 हजार जन-संख्या आती है। प्रत्येक परियोजना लगभग 620 वर्ग कि० मी० क्षेत्र में फैली होती है। अब इस कार्यक्रम के अंतर्गत 5026 विकास खंडों में देश के समस्त गांव आ गए हैं। ग्रामीण क्षेत्र में अप्रयुक्त और अल्प-प्रयुक्त संसाधनों के इस्तेमाल, कृषि और सम्बद्ध व्यवसायों के विकासार्थ और सहकारिता तथा स्वावलंबन की प्राप्ति हेतु चलाए गए विभिन्न कार्यक्रमों के फलस्वरूप तीन दिशाओं में मुख्य रूप से प्रगति हुई। अब अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में विकास के लिए आधारिक संरचना उपलब्ध है। दूसरे कृषि के प्रति लोगों की व्यावसायिक अभिरुचि बढ़ी है और कृषि के परंपरागत स्वरूप में परिवर्तन आया है। तीसरे, पुराने रीति रिवाजों के खिलाफ और उत्पादन कार्यक्रमों के अनुरूप जनमानस में चेतना आई है। पुराने रीति-रिवाजों और रूढ़ियों की जड़ें कमजोर हुई हैं और लोग परंपरागत पैतृक व्यवसायों को छोड़कर लाभ-हानि के अनुरूप व्यवसायों का स्वतंत्रता पूर्वक चयन करने लगे हैं। सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के मूल्यांकन हेतु नियुक्त बलवंतराय मेहता समिति ने इस बात पर जोर दिया कि लोक-तंत्रीय विकेन्द्रीकरण द्वारा ही विकास कार्य-क्रमों में लोगों का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। अतः 1959 में पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना की गई, जिसमें गांव स्तर पर ग्राम पंचायतें, खंड स्तर पर पंचायत समितियां और जिला स्तर पर जिला परिषदें कार्य करती हैं। पंचायत राज संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य कृषि उत्पादन में वृद्धि, ग्राम उद्योगों का विकास, कमजोर वर्गों का उत्थान और सहकारी संस्थाओं को प्रोत्साहित करना है। बिहार, मेघालय और नागालैंड के कतिपय जिलों को छोड़कर देश में सर्वत्र पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना हो चुकी है। ग्राम विकास और सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की सफलता में पंचायत राज संस्थाओं के निहित सिद्धांत वस्तुतः स्वागत योग्य हैं।

तकनीकी उपाय

यद्यपि योजना काल के आरंभ से ही कृषि क्षेत्र में संस्थागत सुधारों के साथ-साथ उपज बढ़ाने के लिए तकनीकी उपायों का समावेश बढ़ रहा था लेकिन 1965-66 और 1966-67 के अभूतपूर्व सूखे के स्थायी निदान और बिगड़ती हुई खाद्यान्न स्थिति को संभालने के लिए तकनीकी उपायों के प्रयोग को वरीयता दी जाने लगी। इन तकनीकी घटकों में सिंचाई, रासायनिक उर्वरक, उन्नत बीज और कीट-नाशकों के कार्यक्रम मुख्य हैं। योजनाकाल में सिंचाई सुविधाओं के प्रसार को अत्यधिक महत्व दिया गया। 1951-52 से 1977-78 की अवधि में देश में छोटी, मध्यम और बड़ी सिंचाई परियोजनाओं पर 9306 करोड़ रुपये व्यय किए गए जिसके कारण शुद्ध सिंचित और कुल सिंचित क्षेत्र में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। 1950-51 में देश में शुद्ध बोए गए क्षेत्र का 17.6 प्रतिशत भाग सिंचित था जो 1975-76 में बढ़कर 24.3 प्रतिशत हो गया। इस अवधि में शुद्ध सिंचित क्षेत्र 209 लाख हेक्टेयर से बढ़कर 345 लाख हेक्टेयर हो गया। कुल सिंचित क्षेत्र में अधिक तीव्र गति से वृद्धि हुई। 1950-51 में कुल सिंचित क्षेत्र 226 लाख हेक्टेयर था जो 1978-79 तक बढ़कर 488 लाख हेक्टेयर हो गया। सिंचाई सुविधाओं के प्रसार से कृषि उपज की मानसून पर निर्भरता कम हुई।

तकनीकी उपायों में एक महत्वपूर्ण कदम रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के

प्रयोग पर जोर दिया जाना है । सदियों से लगातार कृषित होने के कारण भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई थी । अतः योजनाकाल में रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग में अत्यन्त तीव्र गति से वृद्धि हुई । छठ दशक के मध्य में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग स्तर 5 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर था जो 1977-78 में बढ़कर 26 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर हो गया । योजनाकाल के आरंभ के समय देश में कुल 16 हजार टन रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन होता था जो 1973-74 तक बढ़कर 1060 हजार टन हो गया । रासायनिक उर्वरकों के साथ-साथ कृषि विकास के अभिन्न अंग के रूप में पौध संरक्षण उपायों को भी अपनाया गया है । योजनाकाल के आरंभ के समय कुल बोए गए क्षेत्र के 2 प्रतिशत भाग में पौध संरक्षण उपायों का प्रयोग होता था जबकि आज कुल बोए क्षेत्र के 50 प्रतिशत भाग में पौध संरक्षण सुविधाएं उपलब्ध हैं ।

कृषि विकास के लिए एक अन्य प्रमुख कार्य अधिक उपज देने वाले बीजों का प्रसार करना था । परंपरावादी किस्म के बीजों में न तो अधिक उर्वरक और पानी उपभोग कर सकने की क्षमता थी और न ही वे विपरीत मौसम के कुप्रभावों को सहन कर सकने में समर्थ थे । उन्नत किस्म के बीजों की मुख्य विशेषता यह है कि बौने आकार के होने के कारण उनमें उर्वरक और पानी उपभोग कर सकने की क्षमता अधिक होती है । मौसम की प्रतिकूलताओं को भी सहन कर सकने में वे अपेक्षाकृत अधिक सक्षम हैं । अधिक उपजाऊ और सक्षम होने के कारण इन चमत्कारी बीजों के अंतर्गत क्षेत्र बढ़ता गया । वर्ष 1966-67 में गेहूं, धान, ज्वार बाजरा और मक्का के अधीन बोए गए कुल क्षेत्र का 2.1 प्रतिशत भाग अधिक उपज देने वाली किस्मों के अधीन था, जो 1978-79 तक बढ़कर 40 प्रतिशत हो गया । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कृषि विकास हेतु अपनाए गए विभिन्न संस्थागत और तकनीकी उपायों के कारण हमारी कृषि का परपंरागत स्वरूप टूटा है और भविष्य में अधिक विकास के लिए आधारिक संरचना निर्मित हो चुकी है ।

यह अनुमान लगाया जाता है कि वर्तमान शताब्दी के अंत तक भारत की जनसंख्या 100 करोड़ तक पहुंच जाएगी । इस संदर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि क्या हमारे कृषि संसाधन ऐसे हैं कि हमारी भोजन की आगामी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें । यदि संसाधन विद्यमान हैं तो दूसरा प्रश्न यह होगा कि विकास योजनाएं किस प्रकार की हों ताकि आगामी जनसंख्या की भरण पोषण की आवश्यकताएं पूरी की जा सकें । संसाधनों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि भूमि संसाधनों का मात्रात्मक दृष्टिकोण से प्रचार नहीं किया जा सकता, लेकिन उपलब्ध संसाधनों में गुणात्मक परिवर्तनों के द्वारा पर्याप्त सुधार की संभावना है । योजनाकाल में यद्यपि संसाधनों का उपयोग बढ़ा लेकिन अब भी कृषि के आधारभूत कारकों यथा जल, भूमि और मानवीय संसाधनों के संदर्भ में बहुत कुछ करने को शेष है, जिनके समुचित उपयोग से आगामी जनसंख्या का भरण पोषण किया जा सकता है । भारत में उपलब्ध जल-संसाधनों द्वारा कुल 1133 लाख हेक्टेयर भूमि सींची जा सकती है जबकि अब तक कुल सिंचित क्षेत्र केवल 490 लाख हेक्टेयर ही है । देश में अब भी शेष साठ प्रतिशत कृषित क्षेत्र अधिक उपजाऊ किस्मों के अधीन लाया जाना है, जिससे उत्पादन वृद्धि की प्रचुर संभावना बनी हुई है । देश में अब भी प्रति हेक्टेयर मात्र 26 किलोग्राम रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग होता है जबकि अन्य देशों यथा जापान, बेल्जियम, नीदरलैंड, न्यूजीलैंड आदि में प्रति हेक्टेयर 300 किलोग्राम से अधिक रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग होता है । रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग में वृद्धि से कृषि उपज में सम्यक वृद्धि की संभावना है । पुनः कृषि उपज में अंतर्राज्यीय विषमता यह प्रदर्शित करती है कि पिछड़े राज्यों की कृषि विकसित होने पर कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की संभावना है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सिंचाई, रासायनिक उर्वरक और अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के सघन प्रयोग द्वारा कृषि उपज में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है ।

कृषि निवेशों के संदर्भ में सतत स्थितिपरक शोध कार्यों और उनका सक्षमतापूर्वक खेतों तक पहुंचाने की आवश्यकता है । विविधतापूर्ण भारतीय अर्थव्यवस्था में एक ही प्रकार की कृषि प्रणाली समान रूप से सभी राज्यों के लिए लाभदायक न होगी । अतः यह आवश्यक है कि समरूप कृषि क्षेत्रों का पता लगाया जाए और क्षेत्र की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुरूप बीजों और कृषि प्रणालियों का प्रचलन किया जाए । तमिलनाडु के कोयमुत्तूर जिले के सुगरकेन रिसर्च इंस्टीट्यूट से विकसित गन्ने की अधिक उपजाऊ किस्मों का प्रयोग उत्तरी भारत में अत्यन्त कम हुआ है, क्योंकि गन्ना मुख्यतः ऊष्ण कटिबंधीय जलवायु की लगभग एक वर्ष की परिपक्वता अवधि वाली फसल है । इसी प्रकार धान की अधिक उपजाऊ किस्मों में बीमारियों का प्रकोप अधिक होता है । अब तक उपलब्ध धान की अधिक उपजाऊ किस्में सुनिश्चित और पर्याप्त सिंचाई सुविधाओं की अपेक्षा करती हैं । अतः कम वर्षा और अल्प सिंचाई सुविधा वाले क्षेत्रों के लिए अधिक उपजाऊ किस्मों के प्रसार की आवश्यकता है । देश के कुल 3290 लाख हेक्टेयर भू-क्षेत्र में से 340 लाख हेक्टेयर क्षेत्र बाढ़-ग्रस्त और 585 लाख हेक्टेयर क्षेत्र सूखा पीड़ित रहता है । इन क्षेत्रों की कृषि के पिछड़ेपन के निवारणार्थ और उसे सक्षम बनाने के लिए ऐसे बीजों के प्रचलन की आवश्यकता है जो अपेक्षाकृत विषम परिस्थितियों में भी उपज दे सकें । कृषि विकास के लिए उर्वरकों का उपयोग तो अपरिहार्य है ही, साथ ही यह भी आवश्यक है कि पशु बहुल और सीमित उर्वरक क्षमता वाली भारतीय अर्थ-व्यवस्था में जैविक खादों का सघन उपयोग हो क्योंकि अभी हमें रासायनिक खादों का आयात करना पड़ता है जबकि जैविक खादें गांव में ही सुगमतापूर्वक नाममात्र की लागत से तैयार की जा सकती है । इनके अतिरिक्त साख सुविधाओं का व्यापक प्रसार सीमान्त और लघु किसानों के पक्ष में किया जाना है, ताकि वे नवीन कृषि निवेशों का प्रयोग कर सकें और उत्पादन कार्यक्रमों के लाभ उन्हें ऊपर से छन-छनकर न मिलें बल्कि इन विकास कार्यक्रमों के लाभों में वे प्रत्यक्ष भागीदार हों । वस्तुतः आज गरीब और पिछड़े वर्ग तथा क्षेत्र को ही उत्पादक बनाने की आवश्यकता है । इन सबसे यह प्रतीत होता है कि आगामी जनसंख्या के लिए खाद्यान्न पूर्ति की जा सकती है लेकिन वर्तमान जनसंख्या वृद्धि दर को रोके बिना भोजन संरचना में गुणात्मक सुधार संभव नहीं है । □

आदिवासी उत्थान कैसे संभव ?

ईश्वरलाल प० वैश्य

आदिवासी वैशिष्ट्य को अर्थात सामान्य भारतीय समाज से उनके वैभिन्न्य को ब्रिटिश काल में ही प्रशासन द्वारा मान्यता मिल चुकी थी। कई मामलों में देश के सामान्य कानूनों से आदिवासियों को मुक्त रखा गया था। लेकिन उनके विकास के लिए प्रयत्न आजादी के पश्चात ही किए गए। फिर भी पिछले तीस वर्षों के जो परिणाम सामने आए हैं, उनसे अब यह महसूस किया जा रहा है कि आदिवासी क्षेत्रों में किए गए विकास कार्यों का लाभ आदिवासियों ने कम और अन्य लोगों ने अधिक उठाया है।

विकास कार्य के लिए योजनाओं और वित्तीय प्रावधानों का जितना महत्व है, उससे अधिक उन कार्यकर्ताओं और अधिकारियों का महत्व है, जिन्हें योजना को क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। विकास कार्यक्रमों में उन निम्न-स्तरीय अधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं को रीढ़ की हड्डी के समान समझा जाना चाहिए जो प्रत्यक्षतः समाज के सम्पर्क में आते हैं।

दुर्भाग्य से आदिवासी विकास कार्य में लगे अधिकारियों और कार्यकर्ताओं में 90 प्रतिशत ऐसे लोग हैं जो स्वयं गैर-आदिवासी हैं। आदिवासियों और उनकी समस्याओं के बारे में उनका ज्ञान या तो किताबी है या कुछ दिनों के इधर-उधर के छुट-पुट सम्पर्क का। उनके लिए आदिवासी समाज बुद्धिहीन है, पिछड़ा हुआ है, जिसे सुधारने के लिए वे यहां भेजे गए हैं। वे स्वयं तो जो हैं, सो अच्छे ही हैं।

सेवित और सेवक के बीच का यह अलगाव उनमें दुराव पैदा करता है और वे दोनों कभी एक-रंग नहीं हो पाते। परिणाम स्पष्ट है। दोनों अपनी-अपनी जगह कायम रहते हैं। परिस्थितियों की मजबूरियां उन्हें एक जगह लाती भी हैं, तो उस सीमित उद्देश्य को पूरा कर वे पुनः बिखर जाते हैं। कुछ विकास कार्य होते भी हैं। लेकिन ये पुराने कपड़े में लगे नए पैबन्दों की तरह स्पष्ट अलग झलक उठते हैं। इससे आदिवासी जन-जीवन में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं होता। ज्योंही कार्यकर्ता हटता है, शासकीय सुविधा बन्द होती है, आदिवासी उसके अभावों की पीड़ा की तीव्रता को महसूस किए बगैर पुनः अपने पुराने ढर्रे पर चलने लग पड़ता है। आदिवासी के स्वयं के सोचने का तरीका नहीं बदलता।

इस स्थिति में परिवर्तन का एक ही मार्ग है। आदिवासी-सेवकों के रूप में आदिवासियों को ही तैयार किया जाए, प्रशिक्षित किया जाए। यह एक दीर्घ-कालीन सुनियोजित और व्यय-साध्य कार्य जरूर है, लेकिन उपयोगी भी है।

ऐसा प्रशिक्षण एक-दो वर्षों का नहीं हो सकता। कारीगर अपने बच्चों को हाथ-पैर हिलाने लायक होते ही अपने धंधे का प्रशिक्षण देना शुरू कर देता है। व्यापारी होश सम्हालते ही अपने बेटे को पैसे की कीमत, नफा-नुकसान की भाषा तथा खोने और पाने का सिद्धांत समझाने लगता है। सेना भी अपने अधिकारियों का चयन करने के लिए वयस्क पुरुषों को नहीं बल्कि बालकों को लेना और कम उम्र से उन्हें अपनी देख-रेख में प्रशिक्षित करना पसन्द करती है। यह जरूरी नहीं है कि उसी आयु में उन्हें हथियार चलाना सिखाया जाता हो, लेकिन उनके मन-मस्तिष्क को तभी से सैनिक वातावरण के लिए तैयार किया जाता है। सेना के लिए यदि इतनी गहराई से पूर्व तैयारी करनी पड़ती है, तो एक समाज के स्वरूप में परिवर्तन करने के लिए या कार्यकर्ता तैयार करने हेतु हमें कितनी पूर्व तैयारी करनी चाहिए, इसका सहज अन्दाजा लगाया जा सकता है। प्रशासन चलाने के लिए यथावत स्थिति के साथ समझौता कर लिया जा सकता है। लेकिन सामाजिक परिवर्तन इससे एकदम भिन्न है और और उसका मूल्य प्रशासन चलाने से कई गुना अधिक चुकाना पड़ता है।

इस विषय में हमारा सुझाव है कि मनोवैज्ञानिक जांच के बाद पांच-सात वर्ष के आदिवासी-बालकों का ऐसे प्रशिक्षण के लिए चयन किया जाए और तभी से उनका प्रशिक्षण प्रारंभ हो। ऐसे प्रशिक्षण को एक मामूली आदिवासी स्कूल जैसा न समझकर एक आफिसर्स ट्रेनिंग स्कूल जैसा महत्व दिया जाना चाहिए।

लेकिन इसके लिए किसी बड़े शहर में भव्य इमारतों या बड़े ठाटबाट की आवश्यकता नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों में ही किसी ऐसे स्थान का चयन किया जा सकता है, जो मोटे-तौर पर हमारे अधिकांश आदिवासी-क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व कर सके। इर्द-गिर्द में आदिवासी बस्ती हो, जंगल हो, पहाड़ी क्षेत्र हो। भवनों के स्थान पर घास-फूस के या कच्चे छप्पर वाले झोंपड़े हों। जमीन से उनकी कुर्सी कुछ ऊंची हो, फर्श समतल हो, दीवारों में खिड़कियों और हवादानों का प्रावधान हो। रसोईघर और पशुशाला अलग हों। पोशाक में भी न तो सिर्फ लंगोटी हो और न ही शहरी ठाट-बाट हो। घुटनों तक की धोती और कुर्ता या बंडी से काम चलाया जा सकता है। खान-पान और खाने-पीने के तरीकों में भी वैसा ही

वातावरण हो। न तो टेबल-कुर्सी सजाने और आधा दर्जन स्टील या चीनी-मिट्टी के बर्तनों की आवश्यकता है और न ही हाथ में रोटी पकड़ कर खड़े या बैठकर खाने की। अधिकांश परिस्थितियों में मिट्टी के बर्तनों से ही काम चलाया जा सकता है। संक्षेप में, उस विद्यालय का वातावरण ऐसा होना चाहिए, जिसमें भावी आदिवासी जीवन की हमारी आकांक्षित रूप-रेखा का दर्शन हो।

ऐसा वातावरण सिर्फ शिक्षार्थियों के लिए या शिक्षकों के लिए काम के समय तक ही सीमित रहने वाला न हो, बल्कि उस क्षेत्र में रहने वाले शिक्षकों और व्यवस्थापकों के परिवारों तक भी उसका विस्तार होना चाहिए। यह स्व-भावगत बन जाना चाहिए। प्रशिक्षक और उनके परिवारों की जीवन-पद्धति और भौतिक आवश्यकताएं प्रशिक्षण के उद्देश्यों के विपरीत असर पैदा करने वाली न हों। सादगी, अपरिग्रह, सीमित आवश्यकताएं, श्रम-निष्ठा, स्वावलम्बन आदि प्रशिक्षकों के जीवन में भी इस प्रकार आत्मसात हो चुके होने चाहिए कि किसी प्रकार की कृत्रिमता या मजबूरी की उसमें गंध न हो।

इस प्रकार के प्रशिक्षक खोजने के लिए हमें किन्हीं डिग्रीधारियों के समाज में जाने की आवश्यकता नहीं है। कुछ प्रौढ़ और अनुभवी गांधीयुगीन प्राचार्य अब भी हमारे बीज मौजूद हैं, जिनके सान्निध्य में ऐसे विद्यालयों का संयोजन किया जा सकता है। आदिवासियों और रचनात्मक क्षेत्र का पिछले पच्चीस वर्षों का मेरा अनुभव मुझे यह विश्वास करने को प्रेरित करता है कि चारों ओर की भौतिकता की चकाचौंध के बीच भी कुछ गांधीवादी निष्ठावान कार्यकर्ता ऐसे कार्य के लिए हमें अब भी मिल सकते हैं। हो सकता है विषय वस्तु का ज्ञान देने के लिए ऐसे प्रशिक्षकों को भी पहले कुछ प्रशिक्षित करना पड़े। लेकिन हमारे लिए महत्वपूर्ण उनका ज्ञान नहीं, अपितु उनकी जीवन पद्धति और कर्तव्य-निष्ठा है।

ऐसे विद्यालयों के लिए अभ्यासक्रम का निर्धारण भी एक महत्वपूर्ण विषय है। अभ्यास-क्रम-निर्धारण के पहले हमें इस बात का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि हम कहां खड़े हैं और हमें कहां जाना है। हमारा लक्ष्य क्या है। आदिवासी-जीवन की विशिष्टताओं को बनाए रखकर उनका जीवन-स्तर सुधारना [अर्थात उन्हें कुछ अधिक भौतिक सुविधाएं उपलब्ध करा देना—एक ऐसी गोल-मोल बात है, जिसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं होता।

शराब का शौक, एकाधिक पत्नियां रखना, असहिष्णुता, कई प्रकार की तांत्रिक विधाएं, अंध-विश्वास आदि भी आदिवासी जीवन-पद्धति की विशिष्टताएं हैं। क्या ऐसी विशिष्टताओं को हम बनाए रखना चाहते हैं? जीवन-स्तर सुधारने से हमारा तात्पर्य क्या उनको शहरियों जैसा बना देना है? संक्षेप में, सभी आदिवासी विशिष्टताएं ग्राह्य नहीं हैं और न ही पूर्णतः शहरी जीवन ही अनुकरणीय है। हमें वास्तविकता का विश्लेषण कर उचित के पक्ष में और अनुचित के विपक्ष में वातावरण बनाना होगा।

अभ्यासक्रम में भौतिक शिक्षा अर्थात् लिखना-पढ़ना, बोलना, गिनती, कृषि-उद्योग, पशुपालन विषयक वैज्ञानिक ज्ञान, वन-उपज और उनकी औद्योगिक उपयोगिता की जानकारी, कुछ ग्रामीण उद्योग, क्षेत्र की जलवायु सम्बन्धी भूगोल आदि की शिक्षा तो हो ही। लेकिन पढ़ाई क्लास-रूम में न होकर प्रत्यक्षतः खेत-खलिहानों और वनों-गोचरों में हो। सिर्फ किताबी या सैद्धांतिक ज्ञान न होकर श्रम-प्रधान प्रशिक्षण हो। ये तो सामान्य बातें हैं ही। और इनमें ही अधिकांश समय और शक्ति लग जाएगी। लेकिन उन सब के बीच मुख्यतः जीवन-पद्धति, आकांक्षा और सोचने के तरीकों को प्रभावित करना है। उसे विकासोन्मुख, सेवा-निष्ठा और सादा-जीवन, उच्च विचार के अनुरूप बनाना है।

जीवन पद्धति में परिवर्तन करने के लिए जीवन दर्शन में परिवर्तन होना चाहिए। हमारी शासकीय विकास-प्रणाली की कमजोर नस यही है। हमने अभी तक कुछ इधर-उधर के कार्यक्रम लेकर कुछ भौतिक परिवर्तन करने चाहे हैं। परिस्थितियों के वशीभूत कुछ हुए भी हैं। लेकिन आदिवासियों के जीवन-दर्शन को प्रभावित करने के लिए हमारे पास कोई विधायक कार्यक्रम नहीं रहा है। हमने मान लिया है कि ज्यों-ज्यों वे हमारे सम्पर्क में आते जाएंगे, त्यों-त्यों हमारे रंग में रंगते जाएंगे। हुआ भी कुछ ऐसा ही है। जो कुछ थोड़े पढ़े-लिखे आदिवासी हमारे सम्पर्क में आए हैं वे हमारे रंग में रंग भी गए हैं। लेकिन दुर्भाग्य से हमारी अच्छाइयों के पहले उन्होंने हमारी बुराइयों को ही ग्रहण किया है।

अतएव प्रथम आवश्यकता जीवन-दर्शन को प्रभावित करने की है। विकास-कार्यक्रम का यह प्रथम चरण होना चाहिए। यह उसी छोटी आयु में हो सकता है जब बालक का मस्तिष्क कोमल होता है और संस्कारों को ग्रहण करने की स्थिति में होता है। इसी के लिए उपरोक्त प्रकार के विद्यालयों की आवश्यकता है।

विभिन्न आदिवासी जातियों के लिए अलग-अलग या प्रारम्भ में प्रयोग के तौर पर गोंड या भील जैसी किसी एक प्रमुख आदिवासी जाति को लेकर उनके क्षेत्र में ऐसा एक विद्यालय प्रारम्भ किया जा सकता है। लेकिन प्रशिक्षण का यह काल वही पांच-सात वर्ष की आयु से लेकर अठारह-बीस वर्ष की आयु तक का होना चाहिए और उसका सम्पूर्ण आर्थिक बोझ शासन को उठाना चाहिए। अन्यथा आदिवासियों का ही छोटा-सा, लेकिन सुविधा-सम्पन्न वर्ग स्थिति का लाभ उठा लेगा और आज सामान्य जन-जीवन में पब्लिक स्कूलों की जैसी विशिष्ट स्थिति है, जहां सम्पन्न परिवारों की संतान ही शिक्षा पा सकती है, वैसी स्थिति इन विद्यालयों की भी हो जाएगी। ऐसा शिक्षा सम्पन्न वर्ग सामान्य आदिवासियों का वर्गीय प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

प्रथम चरण चाहे जितना खर्चीला हो, लेकिन सही दिशा में लिया गया एक कदम आगे भी हमारी पीढ़ी के लिए संतोष देने वाला होगा। आगे की सुधि आगे वाले लेंगे। □

कृषि अर्थव्यवस्था की समयोचित मांग

फसल बीमा

राजेन्द्र कुमार अग्रवाल

अन्य देशों की तुलना में भारतीय अर्थ-व्यवस्था बहुत हद तक कृषि पर ही आधारित है। कृषि विकास के सभी प्रयत्नों के बावजूद भारतीय कृषि मुख्यतः प्रकृति की कृपा दृष्टि पर ही निर्भर है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि या ओले और कीड़े लग जाने पर खड़ी फसल बर्बाद हो जाती है। किसान अपने भाग्य को कोसने और वर्ष भर भूखों मरने तथा साहूकार के कर्ज में पिसने के अलावा कुछ नहीं कर पाता। हर उद्योग में चाहे वह छोटा हो या बड़ा, कुछ न कुछ विश्वसनीयता रहती है पर कृषि में इसका सर्वथा अभाव है। दुर्घटना और प्राकृतिक विपदा की सम्भावना प्रत्येक उद्योग में रहती है और इसकी हानि से बचने के लिए नाममात्र का प्रीमियम देकर बीमा कराया जा सकता है। परन्तु कृषि क्षेत्र में, जिसमें 80 प्रतिशत लोग जीविका चला रहे हों, इस प्रकार की कोई नियमित व्यवस्था नहीं है। ग्राम बीमा निगम गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु आदि कुछ राज्यों में सीमित आधार पर फसल बीमा योजना आजमाइशी तौर पर चला रहा है। इसके अन्तर्गत कपास, मूंगफली और गेहूं की फसलों का बीमा किया जाता है।

विश्व के उन सभी देशों में जहां कृषि को राष्ट्रीय महत्व दिया जाता है वहां फसल पर आने वाले नाना प्रकार के संकटों से किसान की रक्षा की जाती है। उदाहरण के लिए अमेरिका में सभी प्रकार की मुख्य फसलों पर हर संकट के खिलाफ बीमे की व्यवस्था है। कनाडा, जमैका, श्रीलंका और जापान में भी सभी प्रकार के खतरों से फसल की सुरक्षा के लिए बीमा किया जा सकता है। ब्राजील और मेक्सिको जैसे देश भी मुख्य फसलों की पूर्ण सुरक्षा की व्यवस्था करते हैं। इतना ही नहीं प्योरटेरिको और मारिशस जैसे छोटे देशों में भी चक्रवात और सूखे के लिए बीमा किया जाता है। इन देशों में केवल कुछ फसलों के लिए ऐसी व्यवस्था की गई है। मारिशस में गन्ने, जमैका में केले, प्योरटेरिको में कहवा और फलों वाली सब्जियां और जापान में धान की फसल के लिए बीमा किया जाता है।

भारत में सूखाग्रस्त और बाढ़ पीड़ित क्षेत्रों में राहत कार्य करने तथा तकावी ऋण देने की व्यवस्था है। इससे विपत्तिग्रस्त किसानों को राहत तो पहुंचती है परन्तु इससे अपेक्षित लाभ नहीं हो पाता। फिर इसके अलावा यह भी किसान को शासन की ओर से मिली दया और सहानुभूति मात्र ही तो है। अन्य देश जब किसानों को बीमे की सुविधा जुटा सकते हैं तो भारतीय किसान को ही इस बुनियादी सुविधा से वंचित क्यों रखा जाए।

कुछ लोगों का यह मत है कि भारत की परिस्थितियां अन्य देशों के मुकाबले में बिल्कुल भिन्न हैं। भारत का क्षेत्रफल बहुत विशाल है, फसलों की विविधता है और सब से बड़ी बात कृषि में अनिश्चितता अत्यधिक है, अतः यहां यह योजना लागू ही नहीं की जा सकती। उनका यह भी कहना है कि अगर संकटग्रस्त क्षेत्रों में ही यह योजना लागू की जाए तो अलाभकर होगी और अगर ऐसे क्षेत्रों में लागू की जाए कि जहां सिंचाई और पौध-संरक्षण के साधन पर्याप्त मात्रा में हैं तो वहां किसानों की दिलचस्पी इस योजना में नहीं होगी। परिणामतः योजना विफल हो जाएगी। कुछ लोगों का कहना यह भी है कि जब भारतीय किसान सुधरे हुए बीज और संयंत्र आदि अपनाने में ही आनाकानी करता है तो उसके दिमाग में फसल के बीमे की बात उतर पाना तो मुश्किल ही होगा। परन्तु ये सब तर्क बेबुनियाद हैं। भारत का किसान शताब्दियों से भाग्य और भगवान के भरोसे अब तक जीता आया है और प्रगति के इस युग में भी इन्हीं के भरोसे रहे तो यह शर्मनाक स्थिति होगी। फसल बीमा समूचे भारत में लागू करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां आ सकती हैं परन्तु इनका निराकरण भी किया जा सकता है। इनसे घबराकर योजना के औचित्य को नकार देना न्यायसंगत नहीं होगा। राष्ट्र संघ की विशेषज्ञ संस्थाओं का मत है कि फसल बीमा एक अनिवार्यता है जिसे स्वीकार किया ही जाना चाहिए। अमेरिका और पश्चिमी जर्मनी के विशेषज्ञों की राय के अनुसार फसल बीमा योजना लागू करने से इन्कार करना किसान को भाग्य और भगवान की मर्जी पर छोड़ देना है।

उद्योगों के लिए सस्ते पानी, सस्ती बिजली और जोखिम बीमे की सारी सुविधाएं उपलब्ध हैं। युद्ध और आग जैसी विपत्तियों में भी उद्योग सुरक्षित हैं। परन्तु कृषि उद्योग, जो भारत का सबसे बड़ा उद्योग है, इन सुविधाओं से वंचित है। प्रतिवर्ष बाढ़ और सूखे से अरबों रुपये की हानि होती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि अन्य उद्योगों की भांति कृषि में भी औद्योगिक विश्वसनीयता का वातावरण पैदा किया जाए। यह विश्वसनीयता फसल बीमा लागू करके ही पैदा की जा सकती है। कृषकों की आय स्थिर करके ही कृषि पर आयकर लगाने का औचित्य भी सिद्ध किया जा सकता है। हानि के भय से मुक्ति मिलेगी तो किसान आसानी से नवीन कृषि विधियों और औजारों को अपनाना शुरू कर देगा। जहां तक इस बात का प्रश्न है कि कम अनिश्चितता या अधिक खुशहाली वाले क्षेत्रों के

किसान उदासीन रहेंगे यह भी सही नहीं है। क्या कोई कह सकता है कि इन क्षेत्रों की फसलों पर कभी संकट नहीं आएंगे। सूखा, बाढ़, अग्निकांड, ओले, भूचाल, फसल नाशक कीटों का आक्रमण या असामयिक वर्षा तो ऐसी विपत्तियां हैं जो सभी क्षेत्रों में किसी भी समय आ सकती हैं। कोई भी किसान यह क्यों नहीं चाहेगा कि वह थोड़ा सा पैसा देकर कड़ी मेहनत का फल चखने के लिए निश्चित हो जाए।

देश में काफी लम्बे समय से फसल बीमा योजना पर विचार किया जा रहा है। समस्त योजना आम बीमा निगम के विचारार्थ सौंपी जा चुकी है। गुजरात राज्य फसल बीमे की ओर पहल कर चुका है। 1972 में सूरत और बड़ौदा के दो जिलों में इस योजना का प्रारम्भ किया गया था। परन्तु जरूरत इस बात की है कि सम्पूर्ण योजना को योजनाबद्ध ढंग से पूर्ण विचार के उपरान्त धीरे-धीरे समूचे देश में लागू किया जाए ताकि देश के अधिकाधिक किसान खुशहाल हो सकें।

कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे

फसल बीमा योजना के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सम्पूर्ण योजना भारतीय किसान की समझ के अनुरूप सरल रूप में तैयार की जानी चाहिए। जटिल योजना छोटे किसान को लाभ तो नहीं पहुंचा पाएगी, उल्टे उसकी ठगी की सम्भावनाएं और बढ़ जाएंगी। अतः योजना का सरल और आकर्षक होना एक अनिवार्य शर्त है।

दूसरी प्रमुख बात यह है कि फसल बीमे के लिए प्रीमियम दरें बहुत ही कम होनी चाहिए। इनका उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होना चाहिए। दरों का प्रत्येक क्षेत्र के लिए प्रति हेक्टेयर उपज और आकस्मिकताओं के पूर्व अध्ययन के आधार पर तय होना न्याय संगत होगा। प्रीमियम की रकम के लिए सरकार छोटे किसानों को यदि सहायता देगी तो यह योजना सरकार के सिर मढ़ जाने की पूर्ण सम्भावना है। हां, सरकार इतना अवश्य कर सकती है कि प्रीमियम की नीची दरों के कारण बीमा योजना क्रियान्वित करने वाली एजेन्सी यदि हानि में जाती है तो उसे मुआवजे के लिए ऋण आदि की व्यवस्था कर दे। ऐसा करने से सूखा और बाढ़ राहत के नाम पर प्रतिवर्ष होने वाला करोड़ों रुपयों का सरकारी व्यय बच जाएगा और वास्तविक जरूरतमंदों को सहायता मिल जाएगी।

प्रीमियम की दरों के अतिरिक्त उसके भुगतान की व्यवस्था करना भी एक प्रमुख बात है। प्रीमियम की राशि जहां तक सम्भव हो आसपास के गांवों में ही एकत्र करने की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि छोटे किसानों का समय नष्ट न हो। यहां यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भारतीय किसानों में अधिकांश अभी भी निरक्षर हैं। उनके साथ धोखाधड़ी की रंचमात्र भी गुंजाइश नहीं होनी चाहिए।

योजना की सफलता के लिए नितांत आवश्यक है कि दावों के भुगतान की प्रक्रिया अधिक उलझी और विलम्बकारी न हो। किसान को क्षतिपूर्ति की रकम यदि समय पर नहीं मिल पाएगी तो योजना का सारा उद्देश्य ही विफल हो जाएगा और शनैः शनैः लोगों का विश्वास समाप्त होकर योजना भी स्वतः समाप्त हो जाएगी। दावों के तुरन्त भुगतान का अर्थ यह नहीं है कि बगैर किसी जांच-पड़ताल के भुगतान किया जाए। कुशल एवं ईमानदार बीमा अधिकारियों द्वारा तुरन्त जांचकर निर्णय लेने और त्वरित कार्यवाही करने से यह सब सम्भव हो सकेगा। इतना ध्यान में रहना चाहिए कि मुआवजे के लिए किसान भुगतान कार्यालय के चक्कर ही न काटता रहे।

योजना की सफलता के लिए एक अन्य आवश्यक बात यह है कि योजनाबद्ध तरीके से एक ही एजेंसी द्वारा इसे लागू किया जाए। इससे एक ओर तो क्षेत्रीय असमानता में कुछ कमी होगी क्योंकि सम्पन्न क्षेत्रों से एकत्रित धन का सदुपयोग सुगमता से संकटग्रस्त क्षेत्रों में किया जा सकता है। दूसरी ओर लाभ-हानि का समायोजन होकर योजना निरंतर चलती रहेगी।

योजना के प्रारम्भ में एक अथवा दो ऐसी फसलों के बीमे की व्यवस्था चुने हुए क्षेत्रों में की जाए जिस पर क्षेत्र के अधिकांश किसानों की जीविका निर्भर हो। धीरे-धीरे अन्य फसलों के लिए भी स्वतः इसकी मांग बढ़ती जाएगी। एक अन्य बात यह भी है कि इसे अनिवार्य न किया जाए। किसान स्वयं ही इसकी उपयोगिता समझेंगे और इसमें उनकी दिलचस्पी बढ़ेगी। हां इतना अवश्य किया जा सकता है कि सरकारी सहायता या ऋण आदि प्राप्त करने के लिए फसल का बीमा होना अनिवार्य शर्त रखी जा सकती है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत जैसे विशाल और विविधताओं भरे देश में फसल बीमा योजना लागू करना सरल काम नहीं है परन्तु एक बात सुनिश्चित है कि इससे भारतीय किसान की उलझनें बहुत कम होंगी। कृषि अर्थ-व्यवस्था में एक नया मोड़ आएगा और इसे भी उद्योग की श्रेणी में रखा जा सकेगा। यदि किसान की वास्तव में ठोस सहायता करनी है और उसे साहूकारों के चंगुल में फंसने से बचाना है तो योजनाबद्ध ढंग से फसल बीमा लागू करना श्रेयस्कर होगा।□

बूंद बूंद से घट भरे

अल्प बचत से राष्ट्र की समृद्धि

गांवों में बैंकिंग सेवा का स्वरूप बदले

प्रबोध कुमार गोविल

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि हमारे देश का आधारभूत विकास पूरी तरह से ग्रामीण विकास से सम्बद्ध है। आजादी के बाद से ही देश उन्नति व आत्मनिर्भरता के पथ पर आगे बढ़ा है और विकास की इस यात्रा में आर्थिक संस्था के रूप में बैंकों का महत्व किसी से छिपा हुआ नहीं है। अर्थ-व्यवस्था की दिशा निर्धारक सेवाओं के रूप में बैंकों का नाम सहज ही लिया जा सकता है। शहरों और गांवों में बैंकों का दिनोंदिन बिछता हुआ जाल यह तथ्य प्रतिपादित करता है कि बैंक सेवाएं आर्थिक उत्थान में महत्वशाली भूमिका अदा कर सकती है। यह विकास गांवों में भी शहरों ही की तरह जोर पकड़ रहा है।

यहां तक कि भारतीय रिजर्व बैंक ने यह नीति अपना ली है कि वह एक निर्दिष्ट संख्या में ग्रामीण शाखाएं खोल लेने पर ही व्यापारिक बैंकों को शहरी शाखाओं के लिए लाइसेंस देता है। इसी नीति का प्रभाव है कि छोटे-छोटे गांवों में भी बैंक आज दिखाई दे रहे हैं। ऐसे-ऐसे गांव जहां सड़कें नहीं हैं, बिजली पानी की समुचित व्यवस्था नहीं है, आज बैंक सेवाओं का लाभ प्राप्त कर रहे हैं। कुछ बैंक सुदूर गांवों में विस्तार कार्यालय खोल कर भी सेवाएं दे रहे हैं।

किन्तु मूल प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान शहरोन्मुखी बैंकिंग प्रणाली गांवों में भी अपने इसी रूप में सफल होगी। क्या हमें ग्रामीण बैंकिंग और शहरी बैंकिंग में अन्तर नहीं करना पड़ेगा? क्या अंग्रेजी पद्धति से भर्ती किए जाने वाले कर्मचारी ग्रामवासियों को वांछित सेवाएं दे सकेंगे?

यही कुछ प्रश्न हैं जिनका उत्तर ढूंढना समग्र प्रयास के संदर्भ में असीमित महत्व रखता है।

बैंक के कार्यों और उद्देश्य को हम यदि मोटे रूप में देखें, तो लोगों की बचत को व्यवस्थित करके 'अर्थचक्र' में लाना और इस प्रवृत्ति से एकत्र धन को ऋणों के रूप में जरूरतमंदों के विकास के लिए प्रयुक्त करना ही सर्वोपरि महत्व रखता है। तकनीकी सहयोग और अन्य वाणिज्यिक सेवाएं गांवों की दृष्टि से अभी उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं।

क्या अपने इस उद्देश्य की परिणति उस गति से आज हमें परिलक्षित हो रही है, जो अपेक्षित है? यह हमारे सोचने का विषय है।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि मात्रात्मक दृष्टि से चाहे हमने आज बैंकों का जाल गांवों में फैला लिया हो, वास्तविक उपलब्धि को गुणात्मक दृष्टि से देखें तो हम अभी लक्ष्य से काफी पीछे हैं। हमने जितने साधन और स्रोत ग्रामीण इलाकों में निवेश कर दिए हैं, उनके अनुपात में अभी हमें हासिल नहीं हुआ है।

इसके कई कारण हैं। एक वजह तो इसकी शायद यह हो सकती है कि बैंक शाखा मौजूद होने पर भी ग्रामीण समुदाय को ऋण प्रक्रिया की पर्याप्त जानकारी न होने से वह अधिकतम लाभ प्राप्त करने में सक्षम नहीं है।

सरकारी तौर पर रिजर्व बैंक के माध्यम से जो नीतियां क्रियान्वित की गई हैं, उनमें ग्रामीण संदर्भों के अनुरूप स्वयं को ढालने की क्षमता का अभाव है अर्थात् जो नीति, प्रक्रिया शहरी क्षेत्रों में है वही गांवों में भी लागू है, जबकि गांवों में अपेक्षाकृत उदार ऋण-व्यवस्था की आवश्यकता होती है। सरकार ने समय-समय पर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को मद्देनजर रखकर बैंकों के जरिये कुछ राष्ट्रीय और राज्य स्तर की नीतियां और योजनाएं भी क्रियान्वित की हैं। 'बीस सूत्री आर्थिक कार्यक्रम' भी राष्ट्रव्यापी स्तर पर ग्रामीण अंचलों की समस्याओं को ध्यान में रखकर ही आरम्भ किया गया था।

मूलरूप से इन योजनाओं के उद्देश्य वास्तव में प्रशंसनीय थे। छोटे किसानों को सहायता देना, गांव के सर्वाधिक जरूरतमंद गरीब व्यक्तियों को चुनकर आर्थिक सहयोग के माध्यम से आत्मनिर्भर बनाना आदि इन उद्देश्यों में शामिल थे। पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जाति व जनजाति के समुचित विकास की भी व्यवस्था सैद्धान्तिक रूप में थी। मगर फिर भी परिणाम कोई विशेष आशाजनक नहीं रहे और इसकी वजह यही है कि इन नीतियों का कार्यान्वयन प्रभावशाली नहीं था।

ये कार्य अधिकांशतया बैंकों के माध्यम से ही किए गए। स्थानीय प्रशासनों और राज्य सरकारों से बैंकों को निर्देश मिलते रहे कि वे बीस सूत्री कार्यक्रम के तहत अधिक से अधिक लोगों को ऋण प्रदान करें। इसी प्रकार 'अन्त्योदय' के अन्तर्गत छांटे गए लोगों को भी आवश्यक सहायता देने के निर्देश जारी किए गए। लेकिन दूसरी ओर बैंकों को उनके प्रधान कार्यालयों से यह सख्त आदेश मिलते रहे कि वह बैंक के सामान्य नियमों के अधीन ही ऋण देने की प्रक्रिया अपनाएं, जिनमें जमानत, साख आदि की सामान्य शर्तें व कागजी कार्यवाही मौजूद थीं। एक ओर गांव के सर्वाधिक गरीब, फटेहाल, बेसहारा को छांटना, दूसरी ओर ऋण देने के लिए जमानत या साख का प्रमाण मांगना, यह वह स्पष्ट विरोधाभास था जो इन संपूर्ण योजनाओं का सबसे बड़ा

[शेष पृष्ठ 12 पर]

आदिवासी इलाकों में परिवार नियोजन जरूरी

शोभाराम श्रीवास्तव

आवागमन के साधनों से दूर जंगल-पहाड़ों से घिरे आदिवासी इलाकों में परिवार कल्याण कार्यक्रम के प्रचार-प्रसार की बड़ी जरूरत है। यह वह क्षेत्र है जहां गरीबी, अभाव तथा विपन्नता का साम्राज्य फैला हुआ है। फटे चिथड़ों में लिपटे अधनंगे दम्पति तथा नंग-धड़ंग बच्चे आप को इन इलाकों में प्रवेश करते ही मिल जाएंगे। कुपोषण और कठोर श्रम के कारण यहां के लोग तीस पैंतीस साल में ही बूढ़े नजर आने लगते हैं। यहां बच्चों की जन्म दर भी अधिक है और अकाल बाल मौतों का सिलसिला भी तेजी से चलता रहता है। बच्चों के जन्म के तीन-चार साल तक तो उसे कच्चा फल ही माना जाता है कि न जाने कब जरा से बुखार या सर्दी खांसी से ही चल बसे। जल्दी-जल्दी प्रसूत होने के कारण आदिवासी महिलाओं का स्वास्थ्य भयंकर रूप से गिर जाता है और पांचवें-छठे प्रसूत के बाद तो भरोसा ही नहीं रहता कि किस समय कमजोरी और खून की कमी के कारण महिला की मृत्यु प्रसूत काल में ही हो जाए।

पत्र-पत्रिकाओं, कैलेंडरों, चित्रों, सिनेमा आदि में हम जिन मांसल, चकित हिरणी जैसी मोहक आदिवासी सुन्दरियों के चित्र देखते हैं वे अट्ठारह और बाईस वर्ष की आयु वाली नवयौवनाएं ही रहती हैं। इन चित्रों को देखकर हमारे मन में गलत धारणाएं बन जाती हैं कि आदिवासी बालाएं तो प्राकृतिक सुन्दरता की अनुपम प्रतीक हैं। कभी आप तीस पैंतीस वर्ष की किसी आदिवासी महिला को देखें तो आप का हृदय करुणा से भर जाएगा। रूखे बाल, गढ्ढों में धंसी आभाहीन पीली आंखें, पिचके गाल, सूखे और ढले वक्ष, सूखी लकड़ी जैसे नंगे हाथ पैर। आपको लगेगा यह कोई युवती नहीं-मानवी नहीं, अपितु खेतों-जंगलों में काम करने वाली कोई चलती फिरती मशीन है।

मुझे सात वर्षों तक लगातार मध्य-प्रदेश के आदिवासी इलाकों में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं नगर-कस्बों के पास बसे आदिवासी गांवों की अपेक्षा दूर-दराज के घने जंगलों और पहाड़ों में स्थित आदिवासी गांवों में अधिक घूमा हूं। अनेक रातें आदिवासियों के साथ उनके खेत-खलिहानों में काटी हैं।

उनकी पारिवारिक स्थिति की जब कल्पना करता हूं तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। तीस-पैंतीस वर्ष की आयु तक पहुंचते-पहुंचते आदिवासी दम्पतियों के यहां आठ-दस बार प्रसूति हो जाती है। वे बिरले ही सौभाग्यशाली होते हैं जिनके सब बच्चे जीवित रहते हैं, नहीं तो अधिकांश आदिवासियों के यहां इन आठ-दस प्रसूति में से तीन-चार शिशु तो असमय ही काल कवलित हो जाते हैं। खून की कमी और कठोर श्रम तथा कुपोषण के कारण कुछ अधकचरे गर्भपात भी हो जाते हैं।

तीस से पैंतीस वर्ष की आयु हमारे यहां कर्म की दृष्टि से सर्वोत्तम मानी जाती है, किन्तु इसी उम्र में बढ़ते परिवार की चिन्ता के कारण आदिवासी पुरुष की सारी कार्यक्षमता घट जाती है। वह मानसिक रूप से कुंठित हो जाता है, उसके जीवन में आगे बढ़ने, खुशहाल बनने तथा कुछ कर गुजरने के सपने चूर-चूर हो जाते हैं। परिवार के उदर पोषण के भार से दबकर वह परिस्थितियों से समझौता कर लेता है और पशुतुल्य मेहनत-मजूरी में जुट जाता है। जिस गरीबी में वह पैदा हुआ था, उससे दुगुनी-चौगुनी गरीबी वह अपने बच्चों के लिए पैदा कर देता है।

आदिवासी नारियों की स्थिति तो इससे भी अधिक बुरी होती है। बार-बार गर्भ धारण और प्रसूति से उनका शरीर टूट जाता है। बच्चों की भीड़ के कारण उनकी घर गृहस्थी का भार भी बढ़ जाता है। वे खेत-खलिहानों या जंगलों में मजदूरी करने में लगभग असमर्थ सी हो जाती हैं। उन्हें मजदूरी पर रखने में किसान आदि संकोच करने लगते हैं क्योंकि बच्चों वाली महिलाओं से अपेक्षित काम पूरा होने की आशा नहीं रहती। उन्हें मजदूरी भी कम मिलती है।

बच्चों की हालत तो और भी बदतर होती है। सुबह-रात की बची सूखी रोटी का टुकड़ा ही उनका नाश्ता होता है। फिर दिन भर मां-बाप के साथ जंगल-पहाड़ों में भटकते रहते हैं। रात जब फिर परिवार का रूखा-सूखा भोजन बनता है तो उन्हें भी खाने को मिल जाता है। उनके शरीर पर कपड़े नहीं रहते। चार पांच साल में कभी किसी बच्चे को नए कपड़े बन गए तो वह साथियों में ईर्ष्या का विषय बन जाता है। नहीं तो फटे चिथड़ों में ही आदिवासी बचपन मचलता रहता है। इस माहौल में बच्चों के विकास या शिक्षा की व्यवस्था की बात सोची भी नहीं जा सकती।

ऐसे हालात से भरे आदिवासी इलाकों में परिवार कल्याण कार्यक्रम एक दैवी वरदान की तरह सिद्ध हो सकता है किन्तु उसके लागू करने और उसे सफल तथा लोकप्रिय बनाने के लिए कई स्तरों से कई प्रकार से लगातार धीरज, सहनशीलता और समझदारी के साथ क्रमबद्ध रूप से प्रयास करने की जरूरत है।

इसके लिए सबसे पहले हमें आदिवासी मनोविज्ञान समझने की जरूरत है। चौबीसों घंटे खुली प्रकृति, नदी-नालों, पहाड़ों, जंगलों, पशुओं के बीच रहने के कारण आदिवासी स्वभाव से सहज तथा श्रद्धालु

हो जाते हैं। वे हर चमत्कार को नमस्कार करने लगते हैं। नई बातों को तर्क के आधार पर कम और श्रद्धा के आधार पर अधिक ग्रहण करते हैं।

इस श्रद्धा की अधिकता के कारण ही आदिवासी अधिक अंधविश्वासी बन गए हैं। प्राचीन परम्पराओं और रीति-रिवाजों को वे सरलता से नहीं तोड़ सकते।

इसके लिए जरूरी है कि परिवार कल्याण की सीधी बात आम आदिवासी से न की जाए। सबसे पहले इस बात की जानकारी इन क्षेत्रों में काम करने वाले परिवार कल्याण कार्यक्रम के कार्यकर्ता के पास होनी चाहिए कि कौन-सा आदिवासी लक्ष्य दम्पति किस आदमी की बात का आदर करता है, किससे प्रभावित है।

इन इलाकों में कायरत शिक्षा, राजस्व वन, सिंचाई आदि विभागों के कर्मचारी तथा गांवों के पढ़े-लिखे व्यक्ति, दुकानदार, साहूकार, पंडित आदि लोगों का प्रभाव आदिवासियों पर रहता है। इस आधार पर यह पता करना श्रम साध्य तो जरूर है पर कठिन नहीं है कि कौन सा लक्ष्य दम्पति किस के प्रभाव क्षेत्र में आता है।

फिर इन प्रभावी व्यक्तियों से मेल-मुलाकात कर उन्हीं के माध्यम से आदिवासियों को परिवार कल्याण कार्यक्रम अपनाने के लिए तैयार करना लाभकारी रहेगा।

जितनी सतर्कता तथा समझकारी आदिवासियों को परिवार कल्याण कार्यक्रम अपनाने के लिए सहमत करने के लिए जरूरी है उससे भी अधिक सतर्कता और समझदारी नसबंदी आपरेशनों के बाद के कार्यक्रम के लिए है। बाद की जरा सी चूक हमारे अगले केसों को बिगाड़ देगी। अगर एक भी आदमी की आपरेशन के बाद उपेक्षा की गई या उसे तकलीफ हो गई तो इसका नकारात्मक प्रभाव बड़ी तेजी से सारे इलाके में फैल सकता है और फलस्वरूप भविष्य में अन्य लोगों को इस कार्यक्रम को अपनाने के लिए सहमत करने में बड़ी कठिनाई होगी।

यहां एक बड़ी नाजुक किन्तु बड़ी महत्वपूर्ण बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। जैसा कि मैंने पहले कहा कि आदिवासी बड़े सरल तथा भोले या सहज विश्वासी होते हैं, इसलिए नई चीजों को तर्क की अपेक्षा श्रद्धा और अनुभव से ही ग्रहण करते हैं।

पुरुष नसबंदी के समय हम यह तो बार-बार बता देते हैं कि इस नसबंदी का पौरुष शक्ति पर कोई विपरीत असर नहीं पड़ेगा। पर अनेक मामलों में संबंधित पुरुष और विशेषकर उसकी पत्नी इस बात को पूरी गहराई के साथ स्वीकार नहीं कर पाती। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि देहातों में सदियों से बैलों का बन्ध्याकरण करने का रिवाज है। गांव वाले लोग रात-दिन यह व्यावहारिक रूप से देखते हैं कि बन्ध्याकरण के बाद बैल संभोग योग्य नहीं रहता।

भोले-भाले आदिवासी, विशेषकर उनकी स्त्रियां नसबंदी के बाद इस बात के लिए विशेष आतुर रहती हैं कि कहीं पुरुष की पौरुष शक्ति पर विपरीत प्रभाव तो नहीं पड़ गया तथा व्यवहार द्वारा उसकी पुष्टि करना चाहती हैं। इसलिए वैज्ञानिक दृष्टि से नसबंदी के उपरांत मिलन के लिए जिस अवधि का निर्धारण किया जाता है उसका पूरी तरह पालन नहीं किया जाता तथा समय के पूर्व ही मिलन क्रिया हो जाती है। इसका विपरीत असर नसबंदी कराने वाले पुरुष पर पड़ता है, टांके टूटने का डर रहता है। ऐसे समय पूर्व मिलन से गर्भधारण की संभावना भी रहती है।

अतः इस बात के प्रति भी सजग रहना चाहिए। गांव में कार्यरत महिला कर्मचारी तथा गांव की प्रबुद्ध और समझदार महिलाओं को ऐसी बातों के प्रति लक्ष्य दम्पत्ति को सावधान करने की जरूरत है।

आदिवासियों में बाल विवाह की रोकथाम के लिए भी सघन प्रयास जरूरी हैं। कच्ची उम्र में विवाह होने से शारीरिक शक्ति तो नष्ट होती ही है, बच्चों की संख्या भी बढ़ जाती है।

शिक्षा के प्रसार, स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार आदि से भी हम आदिवासी इलाकों में बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण रखने में सफल हो सकते हैं। □

[पृष्ठ 10 का शेष]

दोष था इसी के कारण इन योजनाओं को आशातीत सफलता नहीं प्राप्त हो सकी।

गांवों में लोग बैंकों में अपने आप नहीं आते। उन्हें विश्वास में लेकर समझाना होता है। अपना पैसा किसी के पास रखने से पहले वे अपनी शंका का समाधान चाहते हैं। उन्हें विभिन्न योजनाओं, स्कीमों, कार्यक्रमों को विस्तार से समझाना होता है। बैंकों द्वारा किए गए सामान्य प्रचार व विज्ञापन को एक बड़ा अशिक्षित समुदाय नहीं समझ पाता है। अंग्रेजी में काम-काज होने, खातों का रख-रखाव विदेशी पद्धतियों में होने से गांव वाले सहज ही आकृष्ट नहीं होते। इसके लिए आवश्यक है कि स्थानीय लोगों के माध्यम से, सहज ग्राह्य प्रणालियों द्वारा यह कार्य संपादित किया जाए। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम लकीर के फकीर बन कर अशिक्षितों की भांति फिर से पुराने तौर-तरीकों पर उतर आएं। पर आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि इन प्रणालियों से गांव वालों को परिचित करवाया जाए। उनका अज्ञान दूर किया जाए। ग्रामीण बैंकों के कर्मचारी सादगी पूर्ण ढंग से, अपनी भाषाओं के माध्यम से ही गांव वालों को विश्वास में ले सकते हैं।

एक बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे लोगों पर अंकुश रखा जाए जो अपना उल्लू सीधा करने के लिए अकारण ही बैंकों और ग्रामीणों के मध्य बिचौलिये या दलाल आदि के रूप में आ जाते हैं और इस प्रकार बैंकों की छवि ग्रामीणों के मध्य में बिगाड़ने का भी कार्य करते हैं।

यदि क्रियान्वयन प्रभावोत्पादक हो, तभी नीतियों का उचित प्रतिफल प्राप्त किया जा सकता है। संख्या की दृष्टि से चाहे हर रोज गांवों में बैंकों की शाखाएं खुलती रहें, योजनाएं, नीतियां, कार्यक्रम प्रसारित होते रहें यदि हमारा 'होरी' आज भी अपनी जरूरतों के लिए महाजनों के चंगुल में जाकर फंसता है, तो यह समस्त व्यवस्था पर, समस्त ढांचे पर, समस्त तंत्र पर एक भद्दा प्रश्नचिन्ह है। □

दालों का संकट कैसे दूर हो

गंगाशरण सैनी

प्राचीन काल से ही दालें भारतीय भोजन का अभिन्न अंग रही हैं। दालें प्रोटीन का प्रमुख स्रोत हैं और मांसपेशियों का निर्माण तथा उन्हें चुस्त रखने का कार्य करती हैं। इसीलिए दालों को 'गरीबों के लिए मांस' बताया जाता है। दालों में विटामिन भी पाए जाते हैं, जो शक्ति प्रदान करते हैं। अतः अगर हमारे भोजन में दालें पर्याप्त मात्रा में नही हैं तो हमारे, विशेषकर शाकाहारियों के स्वास्थ्य पर निश्चय ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। जैसा कि सर्वविदित है आज हमारे देश में दालों के संकट ने भयंकर रूप धारण कर लिया है। 1979 का भयंकर सूखा, दालों को कम उर्वर और असिंचित क्षेत्रों में उगाना, विगत कुछ वर्षों से दालों के बुआई क्षेत्र एवं उत्पादन में स्थिरता, दाल की नवीन किस्मों को न उगाना, उनके कल्चरों का प्रयोग न करना, पौध संरक्षण उपायों को न अपनाना आदि दालों की कमी के प्रमुख कारण हैं।

बाजार में दालों और उनके उत्पादों के भाव काफी बढ़ गए हैं। महंगी दालों को गरीब जनता खरीदने में पूर्णतया असमर्थ है। एक ओर तो दालों का उत्पादन स्थिर और दूसरी ओर देश की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है, जिसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति प्रतिदिन दाल की उपलब्धता में शनैः शनैः कमी हो रही है। 1950 में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन दालों की उपलब्धता 64.6 ग्राम थी जो अब घटकर 44 ग्राम रह गई है। पोषण विशेषज्ञों के मतानुसार एक व्यक्ति के भोजन में कम से कम 60 ग्राम दाल अवश्य होनी चाहिए।

भारत में जहां 60 प्रतिशत लोग निर्धन हैं, अन्य प्रोटीन पदार्थ (मांस, दूध, अंडे) की सर्वसुलभता संभव नही है। प्रोटीन बहुल दालों का उचित मात्रा में उपयोग न होने के कारण छोटे बच्चों, गर्भवती स्त्रियों और दूध पिलाने वाली माताओं के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः हमें एक जुट होकर देश में दालों के उत्पादन को बढ़ाना होगा।

समय पर बुआई

दालों के उत्पादन में वृद्धि के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि दालों की उचित किस्मों की उचित समय और उचित प्रकार से बुआई की जाए। उदाहरणार्थ अनेक कृषक अरहर की पुरानी किस्मों को उगाते हैं जो 10-11 महीने में तैयार होती हैं, जबकि फार्म वैज्ञानिकों ने 160-170 दिन में और 130-140 दिन में तैयार होने वाली किस्में विकसित की हैं और जो उपलब्ध है। अतः कृषकों को चाहिए कि वे कम समय में तैयार होने वाली किस्में ही उगाएं। इस कार्य में कृषि प्रसार विभाग को भी अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करना चाहिए ताकि कृषक नई किस्मों को उगाकर लाभान्वित हो सकें।

अरहर की उचित किस्मों के चयन के उपरान्त उन्हें सही समय पर बोना भी जरूरी है। जो किस्में 160-170 दिन में तैयार होती हैं उन्हें जून के प्रथम पखवाड़े में बोना चाहिए जबकि 130-140 दिन में तैयार होने वाली किस्मों को जुलाई के प्रथम सप्ताह में बोया जा सकता है। यदि समय से पूर्व अरहर की बुआई की जाएगी तो उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का भय रहता है, क्योंकि फूल व फलियों के निर्माण के समय भारी वर्षा होने पर फलियों में फली छेदक नामक कीट का अधिक प्रकोप हो जाता है।

खरीफ में उड़द, मूंग और लोबिया की बुआई मानसून की वर्षा होने से पूर्व करें। इनकी बुआई के लिए सर्वोत्तम समय जून के अंतिम सप्ताह से जुलाई का प्रथम पखवाड़ा है। प्रति हेक्टेयर 15–20 किलोग्राम बीज पर्याप्त होता है। इनकी बुआई में पंक्तियों व पौधों की आपसी दूरी क्रमशः 30 व 8–10 सें०मी० रखें।

रबी की दाल फसलों की बुआई के लिए सर्वोत्तम समय मध्य अक्तूबर है सिवाय तराई क्षेत्र के जहां पर चने की बुआई नवम्बर के प्रथम पखवाड़े में की जाती है। चने व मटर के लिए 75–100 किलोग्राम बीज प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग करें, जबकि मसूर के लिए 30–40 किलोग्राम बीज पर्याप्त होता है। परीक्षणों द्वारा पता चला है कि सीडड्रिल की सहायता से 30 सें०मी० की दूरी पर बुआई करना लाभप्रद रहता है।

नई सस्य पद्धति अपनाएं

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने गत कुछ वर्षों से दालों का उत्पादन बढ़ाने के लिए एक नई सस्य पद्धति विकसित की है, जिसे अपनाने से उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि की जा सकती है। नई सस्य पद्धति का उल्लेख नीचे किया गया है।

सिंचित क्षेत्रों में ग्रीष्मकालीन मूंग की खेती की जानी चाहिए जिसके लिए मूंग की कई उन्नत किस्में विकसित की गई हैं जिनमें पूसा बैशाखी, एस० 8, पी०एस० 16, मोहिनी आदि प्रमुख किस्में हैं। सिंचित क्षेत्रों में इन किस्मों को उगाकर प्रति हेक्टेयर 25 क्विंटल तक उपज ली जा सकती है।

मूंग की पूसा बैशाखी और टाइप 44 किस्मों को सिंचाई परियोजनाओं के कमाण्ड क्षेत्रों में उगाया जा सकता है।

इस नई सस्य पद्धति में बिहार में रबी के मौसम में अरहर की फसल लेने के लिए अरहर की एक नई किस्म विकसित की गई है जिसे 'बहार' की संज्ञा दी गई है। अरहर को ज्वार, बाजरा, मूंगफली या कपास के साथ अन्तः फसल के रूप में उगाया जा सकता है। इसी प्रकार रागी या लोबिया के साथ अरहर को अन्तः फसल के रूप में उगाया जा सकता है।

उड़द की पन्त जी० 114 और चने की बी०जी० 209 किस्में हाल ही में राजस्थान हरियाणा, पूर्वी उत्तर प्रदेश में बुआई के लिए जारी की गई हैं, अतः उन्हें उगाएं।

खरीफ की दाल वाली फसलों में अरहर का प्रमुख स्थान है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने राज्य सरकारों को अरहर गेहूं वाला फसल चक्र सिंचित क्षेत्रों में अपनाने का सुझाव किया है। इस फसल चक्र में पहले अगेती अरहर वाली किस्में उगाएं। अरहर काटने के उपरान्त गेहूं उगाएं। इस प्रकार से दालों के उत्पादन में निश्चय ही वृद्धि होगी।

उत्तरी भारत के सिंचित क्षेत्र के कृषक अगेती अरहर-मूंग वाला फसल चक्र सुगमता से अपना सकते हैं। इस फसल चक्र को अपनाने से प्रति हेक्टेयर 52 क्विंटल गेहूं और 32 क्विंटल दालों की उपज मिल जाती है। अरहर, उड़द और गेहूं के एक अन्य फसल चक्र से प्रति हेक्टेयर 43 क्विंटल गेहूं और 30 क्विंटल दालों की उपलब्धि होती है। ये फसल चक्र परम्परागत मक्का-गेहूं फसल चक्र से कहीं अधिक उत्पादक हैं। अतः कृषकों को चाहिए कि वे परम्परागत फसल चक्र के स्थान पर नए फसल चक्रों को अपनाएं।

उर्वरकों की आवश्यकता

अखिल भारतीय दाल विकास समन्वय परियोजना के अन्तर्गत किए गए परीक्षणों से पता चला है कि जिस भूमि में नाइट्रोजन की कमी है, उसमें प्रति हेक्टेयर 20–30 किलोग्राम नाइट्रोजन प्रवर्तक खुराक के रूप में डालना लाभप्रद पाया गया है। इससे पौधों की प्रारम्भिक वृद्धि के समय उनकी जड़ों में गांठों का निर्माण भली-भांति हो जाता है। गांठों के पूर्ण रूप से विकसित हो जाने के उपरान्त उनमें उपस्थित जीवाणु वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को एकत्रित करने में समर्थ हो जाते हैं। फिर वे नाइट्रोजन की आवश्यकता की पूर्ति वायुमण्डलीय नाइट्रोजन से ही कर लेते हैं। पोटाश व फासफोरस की उचित मात्रा का पता लगाने के लिए समीप की मृदा-जांच प्रयोगशाला में मृदा जांच करा लें। फासफोरस की कमी वाले क्षेत्रों में 40-60 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से फास्फोरस खेत की तैयारी के समय डालें।

खरीफ मौसम में उगाई जाने वाली अरहर की फसल 'जिंक' या जस्ता सूक्ष्म तत्व की कमी के कारण अत्यधिक प्रभावित होती है। धान के बाद मसूर या या धान के साथ मसूर उगाने से भूमि में अक्सर 'जिंक' की कमी हो जाती है। इसकी पूर्ति के लिए 0.5 प्रतिशत 'जिंक सल्फेट' और 0.25 प्रतिशत चूने का छिड़काव तब करना चाहिए जब फसल पर जिंक की कमी के लक्षण दिखाई दें। जिन क्षेत्रों की भूमि में जिंक की कमी स्थायी रूप से होती है, वहां के कृषकों को चाहिए कि वे 25 किलोग्राम जिंक सल्फेट प्रति हेक्टेयर भूमि में डालें।

राइजोबियम कल्चर

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दाल वाली फसलें अपनी जड़ों की गांठों में उपस्थित जीवाणुओं के द्वारा वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को भूमि में एकत्रित करने की विशेष क्षमता रखती हैं, किन्तु नाइट्रोजन एकत्रीकरण भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होता है। परीक्षणों द्वारा पता चला है कि जिस भूमि में प्रत्येक वर्ष दाल वाली फसलें उगाई जाती हैं वहां पर राइजोबियम कल्चर का प्रभाव नगण्य होता है।

सिंचाई

आमतौर पर खरीफ वाली दालों की खेती बारानी क्षेत्रों में की जाती है। देश के कुल अरहर क्षेत्र का केवल 5.5 प्रतिशत भाग सिंचित है। अतः खरीफ वाली दालों का उत्पादन वर्षा पर बहुत कुछ निर्भर है। मानसून की वर्षा यदि समय पर होती रहे तो अरहर की फसल के लिए सिंचाई करने की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु काफी समय तक वर्षा न होने पर फूल आने के समय एक सिंचाई अवश्य करें।

रबी की दाल वाली फसलों के लिए सिंचाई का विशेष महत्व है। इन में दो बार सिंचाई होती है। प्रथम सिंचाई बुआई के 45 दिन बाद करें और दूसरी सिंचाई फलियों में दाने भरने के समय करें। इनमें दालों की उपज में डेढ़ से दोगुनी वृद्धि हो जाती है।

जल निकास

कभी-कभी अरहर की फसल में वर्षा के दौरान काफी मात्रा में पानी एकत्रित हो जाता है। यदि उसे निकाला न जाए तो पौधे पीले पड़कर मर जाते हैं और उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः फालतू पानी को खेत से निकालने का उचित प्रबन्ध जरूरी है। अच्छा तो यह रहेगा कि खेत की तैयारी के समय थोड़ा सा ढाल एक ओर को कर दें ताकि वर्षा का फालतू पानी सुगमता से खेत के बाहर जा सके। जिस भूमि की जल निकास क्षमता बहुत अधिक है वहां पर अरहर की बुआई मेंड़ों पर करनी चाहिए।

रबी की दाल वाली फसलों में आम तौर से जल निकास जैसी कोई समस्या नहीं होती है। यदि शरदकालीन वर्षा अधिक हो जाए तो आवश्यकतानुसार जल निकास का प्रबन्ध करना लाभप्रद रहेगा।

खर पतवारों का नियंत्रण

वर्षा ऋतु में अधिक तापमान और पर्याप्त नमी के कारण खरपतवारों की वृद्धि बड़ी तेजी से होती है, जो मुख्य फसल के साथ नमी, पोषक तत्वों, स्थान, वायु, धूप आदि के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं जिससे पौधों के विकास और वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा खरपतवार रोग व कीटों को भी आश्रय प्रदान करते हैं। इनकी रोकथाम के लिए कम से कम 2 बार निराई-गुड़ाई करें। पहली निराई-गुड़ाई फसल बोने के 25-30 दिन बाद करें और दूसरी निराई-गुड़ाई पहली के 45 दिन बाद करनी चाहिए। उड़द, मूंग और

लोबिया की फसलों में केवल एक बार निराई करने से काम चल जाता है जिसे बोने के एक महीने बाद करना चाहिए।

खरपतवारों की रोकथाम के लिए खरपतवार नाशी दवा का प्रयोग भी किया जा सकता है, जिसके लिए एलाचलोर नामक दवा उपयुक्त पाई गई है। एक या डेढ़ किलोग्राम प्रति हेक्टेयर के लिए पर्याप्त होता है जिसे 700—800 लीटर पानी में घोलकर बुआई के तुरन्त बाद डालना चाहिए। इस दवा के छिड़काव से 4—5 सप्ताह तक खरपतवारों की रोकथाम हो जाती है।

रबी वाली दालों की फसलों में अधिक उपज लेने के लिए इनकी दो बार निराई-गुड़ाई करें। पहली निराई-गुड़ाई बोने के 30 दिन बाद और दूसरी 60 दिन बाद करें।

पौध संरक्षण

दाल फसलों को अनेक प्रकार के कीट और रोग सताते हैं, जिससे उनकी उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। खरीफ की फसल को मुख्यत: बालों वाली सूंडी, पत्ती खाने वाले कीट और फली छेदक कीट हानि पहुंचाते हैं। इन सभी कीटों की रोकथाम के लिए 0.4 प्रतिशत मोनोक्रोटाफोस के दो छिड़काव करने चाहिए। प्रथम छिड़काव बुआई के 30—40 दिन बाद और दूसरा छिड़काव फूल निकलने के समय करें।

खरीफ वाली दाल की फसलों को विशेष रूप से विल्ट और मोजेक नामक रोग लगते हैं। विल्ट रोग से मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में प्रति वर्ष 5—10 प्रतिशत फसल नष्ट हो जाती है। इस रोग की रोकथाम के लिए उचित फसल चक्र अपनाएं। दूसरे ज्वार-अरहर की मिलवां खेती करें। मोजेक रोग के प्रकोप के कारण पौधे छोटे रह जाते हैं। रोगी पौधों की पत्तियां हरी-पीली हो जाती हैं। इसकी रोकथाम के लिए 'विनापारयल' नामक दवा का छिड़काव करें। दूसरे रोगी पौधों को उखाड़कर नष्ट कर दें।

रबी की दाल वाली फसलों को अनेक प्रकार के कीट हानि पहुंचाते हैं जिनमें फली छेदक प्रमुख है। इसकी रोकथाम के लिए फली निर्माण के समय एण्डो-सल्फान नामक दवा का छिड़काव करें। रोगों में चने का झुलसा रोग प्रमुख है। इसकी रोकथाम के लिए रोगरोधी किस्म जी० 543 उगाएं। रोगी पौधों को उखाड़ कर नष्ट कर दें।

अरहर को परम्परागत रूप से अकेला और 75 सें० मी० की या अधिक दूरी पर उगाया जाता है जिसके कारण दो पंक्तियों के मध्य की जगह 60—75 दिन तक बेकार पड़ी रहती है क्योंकि शुरू में अरहर की बढ़वार धीमी गति से होती है। फलस्वरूप अरहर के मध्य की जगह खरपतवार द्वारा घेर ली जाती है जो फसल को विभिन्न प्रकार से हानि पहुंचाते हैं। खरपतवार से बचने के लिए अरहर की दो पंक्तियों के बीच में कोई ऐसी फसल उगानी चाहिए जो 60—75 दिन के अन्दर तैयार भी हो जाए और अरहर की फसल पर कोई प्रतिकूल प्रभाव भी न पड़े। परीक्षणों द्वारा पता चला है कि अरहर की 'टाइप-21' नामक किस्म की फसल के साथ उड़द, मूंग या लोबिया की अन्त: फसल सुगमता से ली जा सकती है।

दालों की उपज में वृद्धि करने के लिए छठी पंचवर्षीय योजना में 4.44 करोड़ रु० की लागत से 6 नए केन्द्र खोलने का प्रस्ताव है। ये केन्द्र उन 28 केन्द्रों के अलावा होंगे जो अखिल भारतीय दलहन विकास समन्वय परियोजना के अन्तर्गत पहले से ही कार्य कर रहे हैं। नए अनुसंधान कार्यक्रमों के अन्तर्गत भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान ने इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा है कि दालों की उपज क्षमता कम क्यों है। इसके अलावा दाल की संकर किस्में विकसित करने की सम्भावनाओं का भी पता लगाया जाएगा। अभी तक केवल अरहर की संकर किस्में विकसित करना ही कृषि अनुसंधान का सीमित क्षेत्र रहा है।

दाल वाले पौधों की बनावट को ऐसा बनाने पर बल दिया जाएगा कि वे सौर ऊर्जा का अधिकतम उपयोग कर सकें। अभी तक दालों के गुणों की ओर विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया गया है। परिषद के द्वारा स्थापित नए केन्द्रों पर दालों के विभिन्न गुणों पर अनुसंधान किया जाएगा। □

नया तराना

हेमन्त गोस्वामी

बदली फिजाएं मौसम सुहाना,
झूमे गगन ये, चूमे पवन ये
मस्ती में घूमें गाएं तराना।
धरती ने ओढ़ी धानी चुनरिया
अम्बर पे छाई सुख की बदरिया,
मेहनत के मोती खेतों में बिखरे,
सिमटी दुखों की काली चदरिया।
बैलों को ले के खेतों में चलके
मिटा दें युगों की धरती की तृष्णा।
कमजोर तबके अब ऊंचे उठेंगे
जमाने की धड़कन में घुल मिल सकेंगे,
प्रशासन से शिकवे गिला न रहेंगे
मजदूर को उसके हक मिल सकेंगे।
भूखे रहे हैं, न नंगे रहे हैं
सबके लबों पे खुशी का फसाना।
तंग जज्बात दिल के मिटा दें
उल्फत जगा दें नफरत मिटा दें,
रिवाजों के झूठे इरादे मिटा दें
धनिकों-गरीबों का अंतर मिटा दें।
चुस्ती जगाएं, सुस्ती भगाएं
आलस का छोड़ें ढर्रा पुराना।

हे प्रभु, मेरी विनती सुन ले, इस बार तो लड़का दे दे वरना मुझे आत्महत्या करनी पड़ेगी। अब नहीं सहा जाता। बहुत सह लिया कुछ तो रहम खाओ दीनों के नाथ! पतित पावन! शरणागत की रक्षा करने वाले! दासी की लाज रखो! मेरी विनती पर गौर करो प्रभु! मैं तुमसे और कुछ नहीं मांगती। --गौरी आंचल फैलाए पूजाघर में भगवान की मूर्तियों के सामने रो रही थी। "तुमने मुझे कई बार निराश किया है प्रभु। अबकी निराश न करना। इतने कठोर क्यों हो गए? दुखियारी पर रहम खाओ।" एक-एक शब्द से दीनता टपक रही थी। कुछ देर और प्रार्थना करती कि कर्कश स्वर सुनाई पड़ा-- "अरी अब पूजाघर से निकल भी आएगी या वहीं खड़ी-खड़ी गिड़गिड़ाती रहेगी। भगवान भी ऐसे पापियों की नहीं सुनता। जाने पहले जन्म में कैसे-कैसे पाप किए थे। फल हमें भुगतना पड़ रहा है। कैलाशो के दो ही लड़के हैं और पांच पोते हैं। यहां एक पोते का मुंह देखने को तरस रहे हैं। लोग क्या कहते हैं एक से हजार हो जाते हैं। यहां एक भी नहीं हुआ। मेरा फूल सा बेटा भी कमजोर हो गया इस गम में।" गौरी की सास टेपरिकार्डर की तरह बोले जा रही थी। गौरी पूजागृह से निकल कर काम में लग गई और सास फ्रंटियर मेल बन रही थी बोलने में-- "इससे अच्छा था कि तेरे औलाद न होती। एक पत्थर रख लेती छाती पर। ये चार-चार हथिनी सी लड़कियां तो न होतीं। कैसे उद्धार होगा इनसे। मेरा बेटा तो बूढ़ा हो जाएगा इनके लिए कमाते-कमाते, इनके हाथ पीले करते-करते।" गौरी और उसकी चार लड़कियों को कोसने के अतिरिक्त सास को कोई काम न था। इन लोगों के लिए आठों पहर गालियां ही रहतीं उसकी जबान पर। बहू ने सास का, बच्चियों ने दादी मां का सुख जाना ही नहीं।

"दादी मां, दादी मां। सोनी बहुत सुन्दर फ्राक लाई है। हमें भी ले दो ऐसा दादी मां। ले दो न।" पांच वर्षीया रानी कर्कशा दादी मां से फ्राक की फरमाइश कर बैठी। भोली आंखें दादी के चेहरे पर टिक गई। "मान जाओ दादी मां ला दो फ्राक" मानों चुपचाप आंखें बराबर प्रार्थना कर रही हों। "बड़ी फ्राक वाली आई .... सोनी की हिर्स करती है। तीन-तीन भाई हैं उसके। हमारे यहां कौन खुशी का कारज हुआ है जो नए कपड़े बनवाएं। जा अपनी लडैती मां से कह, एक नहीं छह-छह फ्राक बना देगी अपनी लाड़लियों को। बड़े नसीब लेकर आई है सबकी बराबरी करती है।" कहती हुई दुत्कार कर दादी मां दरवाजे की तरफ बढ़ गई।

उधर ढाई वर्षीया संजू रोए जा रही थी कि उसे वही खिलौना चाहिए 'चाबी वाला मोटर' जो बेबी के पास है। गौरी समझा-समझा कर हार गई। बच्चे की जिद ठहरी। "बोल लेगी खिलौने" कह कर उसने एक थप्पड़ मार दिया। बाल रुदन फूट पड़ा। क्रोध शांत हुआ ही था कि रानी चली आई "अम्मा सोनी बहुत अच्छा फ्राक लाई है मुझे भी ऐसा फ्राक ला दो। दादी मां ने डांट दिया कहती है तेरी लाडली मां बनवाएगी। अम्मा तुम बनवा दोगी न?" कितनी मासूमियत भरी अनुनय-विनय थी। गौरी झुंझलाहट से भरी ही थी। संजू के रोने ने उसे दुखी कर दिया था। रानी पर उसका क्रोध फट पड़ा "खत्ती गढ़ी है न अम्मा के पास। जब अच्छे नसीब लेकर नहीं आई तो इच्छाएं लेकर क्यों आई? बता जाएगी अब बाहर? मांगेगी किसी की चीज देखकर? बोल..." और दो चार थप्पड़ फूल से गालों पर जड़ दिए। रानी सहम गई, थर्रा गई, पर क्रोध को शान्ति न मिली। "तुम सबने क्यों मेरी जान खा रखी है दूर हो जाओ मेरी नजरों से।" कहते-कहते गौरी ने रानी को धक्का दे दिया। "मां" चीखती हुई रानी दीवार से जा टकराई, किवाड़ में निकली एक छोटी कील ने उसके सिर में रुधिर की धारा बहा दी। गौरी की सांस बुरी तरह फूल रही थी। क्रोध की अग्नि के के लिए खून शीतल जल साबित हुआ, ममता जाग उठी, "रानी, हाय-हाय क्या हो गया मेरी बच्ची को।" रुई पर सरसों का तेल लगाकर अपनी ही धोती फाड़कर फौरन पट्टी बांध दी, खूब दुलारा-पुचकारा "क्या हो गया था मुझे कैसा भूत सवार हो गया था, अपनी बच्ची को खुद ही घायल कर दिया, कैसी मां हूं मैं भी? आग लगे इन हाथों को?" स्वयं को कोसती रही। ढूंढ़ कर टिंक्चर लाई, पट्टी पुनः बांधी। पड़ौस के बच्चे से दूध मंगाकर चुपचाप रानी को पिला दिया, ताकि सास जी को पता न चले वरना "दूध पिला-पिलाकर क्यों हथिनी बना रही है? इन्हें" जैसे कर्कश वाक्य उसे कान उतारने पड़ते। रानी को गोद में लिया, प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसे निहारती रही। "इस मासूम बच्ची का क्या दोष है? इन्हें जन्म दिया है तो अच्छा खिलाना-पिलाना तुम्हारा फर्ज है, गौरी कितने चाव से तूने इसका नाम रानी रखा था, ऐसे ही रानी बनेगी तेरी बिटिया? उसे ही तूने आज मारा गौरी। तू क्या से क्या हो गई? लड़के-लड़की में भेद न मानने वाली तू ही लड़के को तरस रही है। लड़कियां तेरे लिए बोझ बन गई हैं, नहीं, नहीं! तू इन्हें मत दुतकारना। बेचारी किस-की होकर रहेंगी।" गौरी की आत्मा उसे लताड़ रही थी, मन-मस्तिष्क परेशान था, एक घुटने पर रानी बैठी थी एक पर संजू। आंसू भरी आंखों से दोनों को निहार रही थी। प्यार भरी उंगलियां बाल सहला रही थीं, दोनों बच्चियों को ममता भरा स्पर्श बड़ा प्यारा लग रहा था। स्नेह-आंचल की छांव में दोनों को नींद आ गई।

उन्हें चारपाई पर सुलाकर गौरी उठी, कमरे में जाकर अपने दोनों हाथ दीवार पर जोर-जोर से मारने लगी, उसका विचार था कि इन्हीं हाथों ने संजू को मारा, रानी को घायल किया, इन्हें सजा मिलनी ही चाहिए। "मां, मां, यह क्या कर रही हो?" बड़ी बेटी मंजू ने जल्दी से आकर मां के दोनों हाथ पकड़ लिए, "बस करो मां। तुम्हें मेरी कसम।" गौरी निढाल होकर वहीं गिर गई।

गौरी के मन का गुबार अभी नहीं निकला था, रानी की चोट का क्षोभ था, खाने को फल-दूध मिलते नहीं बेकार इतना खून निकल गया, उसकी क्या गलती है? क्यों सास उसके पीछे पड़ी रहती है? लड़के-लड़की में भी किसी का बस होता है, इन मासूम बच्चियों को क्यों सजा दी जाती है ये एकदम बेकसूर हैं। सासजी का छोटा लड़का घर से निकल गया था और सास बेकसूर गौरी को इसके लिए जिम्मेदार ठहराती थी। कब तक उसके लिए

पछतावा

विमला रस्तोगी

शोक मनाया जाएगा । कब तक ये बच्चियां जरा सी चीज को तरसेंगी ? जब तक भाई न होगा इनका आदर ही न होगा, यों ही दुतकारें मिलती रहेंगी, इनके भाग्य को कोसा जाता रहेगा। इन्हें अच्छा खाने पहनने को नहीं मिलेगा, यह अधिकार सिर्फ लड़कों के हैं लड़कियों को बस दो जून रोटी चाहिए जीने के लिए । कैसे रीति रिवाज हैं ? यह घुटन मुझे मार डालेगी, मेरी फूल सी बच्चियों का जीवन बरबाद कर देगी । "इन अन्धविश्वासों को हटा दो, मिटा दो ।" गौरी ने चीखकर कहा, किन्तु वहां उसकी आवाज़ दीवारों के अलावा कौन सुनता ?

गौरी की 9 तथा 7 वर्षीया लड़कियां मंजू और गीता जरूरत से ज्यादा संतोषी हो गई थीं। होशियारी तथा समझदारी ने उम्र का बांध लांघ लिया था। कभी किसी वस्तु या अच्छे कपड़ों की मांग न करतीं। वह असमय ही मुरझा जाने वाली अबोध कलियां हो गई थीं। इसी से घर के क्लेश का कारण वह नहीं बनती थीं। रानी और संजू से गौरी परेशान थी। बात-बात पर पड़ोसी बच्चों की नकल करना चाहतीं। वह कैसे समझाए इन्हें ? सासजी जरा-जरा सी बातों पर खासा लेक्चर दे डालती थीं। गौरी को स्वयं पर आश्चर्य होता कि इतने वर्षों बाद भी वह लेक्चर सुनने की आदी क्यों न हो पाई।

गौरी के प्रसव के दिन करीब आते जा रहे थे । अधिक काम करने की स्थिति में न होने पर भी काम करती। करना ही था इच्छा से या अनिच्छा से। गीता, मंजू द्वारा काम में सहायता देने पर भी वह स्वयं बहुत कमजोर और थकी-थकी महसूस करती। उसने अपनी पूजावधि लम्बी कर दी थी।

"प्रभु मुझसे प्राण दान लेकर पुत्रदान कर दो। करुण पुकार तुम सुनते हो न। सुना है हुमायूं के सख्त बीमार होने पर बाबर ने दुआ मांगी थी। दुखी बाप की करुण पुकार तुमने सुन ली। पुत्र अच्छा हो गया पिता चल बसा। एक बार पुनः वह

चमत्कार दिखा दो प्रभु। मेरे बलिदान से इस घर की खुशी वापस आ जाएगी। मेरी लड़कियों का जीवन सुधर जाएगा। सास जी की पहली और आखिरी इच्छा पूरी हो जाएगी।" आंखें बरसने लगी, दामन फैल गया, मस्तक भगवान के चरणों में झुक गया। सास की तीव्र बोली ने उसकी आराधना को भंग कर दिया। आंसू पोंछ कर रसोईघर को चल दी। काम जो पड़ा था।

गौरी के पति ने गौरी की व्यथा समझने की कभी कोशिश न की, मां के लाड़ले आज्ञाकारी पुत्र जो ठहरे। मां के सिखाने से उन्हें भी विश्वास हो चला था कि गौरी अभागिन है। उसके ही दुर्भाग्यवश छोटा भाई घर से निकल गया और वह स्वयं भी पुत्र से वंचित है। बिना कुलदीप के कुल अंधियारा है। उन्हें अपना नाम न चलने की बड़ी चिंता थी। बेटा ही बाप का नाम चलाएगा। भले ही कुलक्षण उठे, रहेगा बेटा ही। अजीब विचारधारा थी जिसने मां बेटे के दिमाग में स्थायी घर बना लिया था। बेकसूर गौरी और मासूम बच्चियों का गुनाहगार ठहरा दिया था।

गौरी कल से पीड़ा से त्रस्त है। उसका ध्यान बराबर भगवान में पड़ा है। इस बार प्राणों की बाजी है, हारती है या जीतती है यही जानना है उसे। नवेली धूप तथा गौरी के पीतवर्णी शरीर में काफी समानता थी। बस एक अन्तर था धूप चमकने पर अग्रसर थी, गौरी बुझने पर। स्त्री का मातृत्व उसे असह्य पीड़ा सहने को मजबूर करता है। गौरी की हालत बिगड़ रही थी। दाई ने किसी अच्छे डाक्टर को बुलाने की सलाह दी। "अरी तू बूढ़ी हो आई बच्चे जनाते जनाते, कौन सा पहलौठी का है हिम्मत से काम ले।" कह कर सास ने खर्च की बात टाल दी। रानी और संजू कमरे के बाहर बैठी रो रही थीं। मंजू और गीता मां के कुशल-क्षेम की कामना कर रही थीं। नवजात शिशु की रोने की आवाज के साथ "मुबारक हो मुबारक हो बहू जी इस बार पोता हुआ है, अल्लाह ने सुनली तुम्हारी," बूढ़ी दाई की इस खबर से सबके शरीर में बिजली के करंट की तरह खुशी दौड़ गई। "अरे तेरे मुंह में घी-शक्कर। सच कह रही है न। सास को अभागी बहू के सौभाग्य पर विश्वास न हुआ।" "और क्या झूठ कहूं हूं आकर देख लो पोते को। कहे देऊं हूं मैं नया जोड़ा लूंगी, हां।"

देखा और सास खुशी से फूल कर गैस का गुब्बारा बन गई। "ले लेना बाबा। जी भर कर के नेवा दूंगी सबको। अरे जगमोहन बेटे, खड़ा-खड़ा मुंह क्या देख रहा है जाकर डाक्टर को बुला ला, ताकत की दवा दे देंगे बहुत कमजोर है इस बार। मंजू, गीता, रानी, संजू तुमने सुन लिया न तुम्हारे भैया हुआ है।" किसी से कुछ, किसी से कुछ कहती सास एक गठरी निकाल लाई। "रानी ये ले 20 रुपये फ्राक ले आना मोनी के बापू के साथ।" अन्य तीनों के हाथ पर भी दादी ने पहली बार 10—10 रुपये का एक नोट रख दिया। सास की खुशी का पारावार न था। सभी भगवान को धन्यवाद दे रहे थे।

प्रेशर स्टोव में पम्पिंग की तरह इस खबर ने सास और जगमोहन में फुर्ती भर दी। सास फिरकनी सी नाच रही थी। पास-पड़ोस की स्त्रियां भी खुशी जाहिर करने आ रही थीं। "बधाई हो जगमोहन की मां, बहू पूरी लक्ष्मी निकली।"

"मैं कहती थी न, भगवान के घर देर है अंधेर नहीं।" सास ने कहा।

डाक्टर तो आ न सके। हां ताकत की दवाई, मेवा और घी लेकर जगमोहन आ गए। गौरी को सौ-सौ आशीर्वाद मिले।

सबके चेहरे बिजली के बल्ब से चमक रहे थे घर में। बधावे पड़ रहे थे। और गौरी! उसका चेहरा निर्लिप्त, निर्विकार था एक दम शांत, न खुशी न गम। बस भगवान के प्रति कृतज्ञता झलक रही थी। पास लेटे मुन्ने का मुंह देखती और आंखें बन्द कर लेती मानो कोई योजना बना रही हो। आंखें खोलती तो उसकी निगाह पास रखी दवा की शीशियों, ताकत के लड्डुओं तथा पंजीरी पाक पर जाती तो व्यंग्यभरी मुस्कान उसके शुष्क होंठों, पीले चेहरे पर खेल जाती। इतने में सासजी का स्वर सुनाई पड़ा। शायद पड़ोसन से कह रही थीं "क्या करूं बहन वह कुछ खाके ही नहीं देती। सबका सब ऐसे ही रखा है। बहुत कमजोर हो गई है। कल से बुखार हो गया है। डाक्टर को बुलाने गया है जगमोहन। ठीक-ठाक रहे मेरी चांद सी बहू।"

आखिरी वाक्य पर गौरी कराह कर भी हंस दी। "चांद सी बहू"। चांद अमावस की अंधियारी में खो चुका है। चांद पर दुर्भाग्य की काली चादर डाल दी गई है। उसे ग्रहण लग गया हमेशा के लिए। डाक्टर आ गए। गौरी डाक्टर को देखकर चिढ़ गई....क्यों आया है डाक्टर? ये औपचारिकताएं क्यों निभाई जा रही हैं। शरीर का सारा निचोड़ हो गया तो डाक्टर क्या करेगा? पिछली तीन लड़कियों के प्रसव पर कैसी बेकदरी की थी। अब बुझी आग से लपटों की उम्मीद की जा रही है। लपटें नहीं उठेंगी आग राख बनने जा रही है। यह सब कहना चाह कर भी वह कह न सकी। डाक्टर दवाइयां और हिदायतें देकर चला गया। विशेष रूप से यह भी कि गौरी को खुश रखा जाए, सोचने न दिया जाए, कोई मानसिक सदमा पहुंचा है।

जगमोहन कोशिशों के बावजूद भी गौरी को खुश न कर सका। हालत दिन-ब-दिन गिरती गई। गौरी उठकर बैठ भी नहीं सकती थी। नन्हा 'दीपक' ठीक था। गौरी भगवान को दिया वचन पूरा करना चाहती थी। "तुम्हें जिसकी चाह थी मैंने दे दिया। मेरे शरीर में कुछ नहीं रहा, जीकर क्या करना।" जगमोहन मन ही मन तड़प सा गया। गौरी क्या से क्या बना दी गई।

और एक दिन बुझती आग आखिरी बार भड़की। सब खुश हुए। उसने चारों लड़कियों और नन्हें दीपक को प्यार किया। पंछी दुर्भाग्य का पिंजरा तोड़कर आजाद हो गया। पति और सास हाथ मलते अपनी भूल पर पछताते रहे। □

छोटा परिवार सुखी परिवार

मीणा जनजाति का विकास : एक अध्ययन

महेन्द्र कुमार घड़ोलिया

राजस्थान की कुल जनसंख्या में 11 प्रतिशत भाग जनजातियों का है। इनमें मीणा सर्वाधिक हैं। कुल जनजाति जनसंख्या का 50 प्रतिशत भाग मीणा जनजाति का है। इस जनजाति का अधिकांश राज्य के दक्षिण-पूर्व हिस्से में केन्द्रित है। यह जनजाति आज भी बहुत ही पिछड़ी अवस्था में रह रही है। विकास योजनाओं का इस पर कोई विशेष प्रभाव नजर नहीं आता। इसके विकास की कुछ विशेष समस्याएं हैं जो इसके अध्ययन का औचित्य सिद्ध करती हैं।

यहां हमने अध्ययन के लिए डूंगरपुर जिले के मांडव गांव को चुना है। मांडव डूंगरपुर जिले की सागवड़ा पंचायत समिति में आता है। गांव के चारों ओर पर्वत श्रेणियां हैं। यह गांव डूंगरपुर से 22 किलोमीटर दूर स्थित है। गांव की कुल जनसंख्या 4960 है, जिसमें से 62 प्रतिशत जनसंख्या मीणा जनजाति की है। गांव की आबादी 6 'फलों' में बिखरी हुई है। 5 फलों में केवल मीणा जनजाति के लोग निवास करते हैं, जबकि एक फले में सभी जातियां रहती हैं। यहां कुल 500 मीणा परिवार निवास करते हैं। अध्ययन के लिए 50 परिवारों से पूछताछ की गई। मीणा जनजाति में कई उपजातियां हैं। अध्ययन में प्रत्येक को प्रतिनिधित्व मिल सके, इसलिए प्रत्येक उपजाति में से 10 प्रतिशत परिवारों को चुना गया। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में 15 परमार परिवार, 10 मनात, 10 खराड़ी, 5 रोत, 5 अहारी और 5 डिंडोर परिवारों को चुना गया। सूचना प्राप्त करने के लिए साक्षात्कार अनुसूची बनाई गई और व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क कर जानकारी एकत्रित की गई।

अध्ययन से पता चला कि यह जनजाति अभी भी सामाजिक रूढ़ियों को अधिक महत्व देती है। यदि कोई व्यक्ति परम्पराओं को तोड़ता है तो उसे जाति से बाहर निकाल दिया जाता है। यहां संयुक्त परिवार नहीं हैं। परिवार सामान्यतः औसत आकार के ही हैं। विवाह छोटी आयु में करने की परम्परा है। ऐसे उदाहरण भी देखने को मिले जिसमें वर की आयु वधू से कम है। इस जनजाति में लड़की का दहेज मूल्य लिया जाता है।

आर्थिक समस्याएं

आर्थिक दृष्टि से इस जनजाति के व्यक्तियों की स्थिति अच्छी नहीं है। मीणा परिवार के पास औसतन 1.2 एकड़ भूमि है। भूमि की किस्म भी घटिया है। अच्छी और उपजाऊ भूमि पर आमतौर पर सवर्ण कृषकों का स्वामित्व है। सिंचाई की सुविधा न होने के कारण ये एक ही फसल ले पाते हैं। कभी-कभी जब वर्षा हो जाती है तो चने अथवा अलसी की फसल भी हो जाती है। मीणा परिवारों के पास कुल भूमि का 10 प्रतिशत ही सिंचित है। बाकी असिंचित, चरागाह अथवा पहाड़ी है। 50 प्रतिशत मीणा परिवारों के पास कृषि भूमि नहीं है। एक बार बीज बो देने के बाद ये देखभाल नहीं करते हैं। जो उपज मिल जाती है उसी पर संतोष कर लेते हैं। यद्यपि ये मेहनती होते हैं, परन्तु कृषि विधि पुरानी अपनाते हैं जिससे पैदावार बहुत कम होती है। परिवारों का मुख्य व्यवसाय कृषि है, फिर भी सहायक व्यवसाय के रूप में 78 प्रतिशत परिवारों के सदस्य मजदूरी अथवा नौकरी भी करते हैं। ये कृषि की नई विधियों से अनभिज्ञ हैं और इनमें से अधिकांश रासायनिक खाद का प्रयोग नहीं करते हैं। 22 प्रतिशत परिवार तो रासायनिक खाद के बारे में जानते तक नहीं हैं। 26 प्रतिशत परिवार धन की कमी के कारण इसका उपयोग नहीं कर पाते हैं।

मीणा जनजाति की आर्थिक समस्याओं में सबसे महत्वपूर्ण समस्या ऋणग्रस्तता की है। सभी परिवार ऋण ग्रस्त हैं। सभी परिवारों ने अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण लिया है, जिनमें विवाह, मृत्युभोज, बीमारी, मुकदमेबाजी प्रमुख हैं। बैंक से केवल 8 प्रतिशत परिवारों ने ऋण लिया। यह उत्पादक कार्यों के लिए लिया गया है। ऋण की मात्रा 500 रु० से कम है। ऐसे 46 प्रतिशत परिवार हैं। ब्याज की दर 25 प्रतिशत है। सामान्यतः खातों में ब्याज की दर कम लिखते हैं, परन्तु वास्तव में ज्यादा वसूल करते हैं। गरीब मीणा परिवार किसी से कुछ कहने की स्थिति में नहीं होता है।

शिक्षा की समस्या

भारत में शिक्षा पर प्राचीनकाल से ही कुलीनवर्ग का एकाधिकार रहा है। डूंगरपुर जिले की मीणा जनजाति के लोगों में साक्षरता का प्रतिशत केवल 7 है। गांव में 82 प्रतिशत व्यक्ति अभी भी निरक्षर हैं। साक्षर व्यक्तियों में माध्यमिक स्तर से अधिक पढ़ा-लिखा कोई नहीं है। गांव में दो प्राथमिक पाठशालाएं हैं परन्तु जनजाति के व्यक्ति स्कूलों म अभी भी बच्चों को नहीं भेजते हैं। बच्चों की अशिक्षा का मुख्य कारण माता-पिता की गरीबी है। वे बच्चों को काम पर भेजना ज्यादा पसन्द करते हैं। इस जनजाति के व्यक्ति अभी भी लड़कियों को पढ़ाने के पक्ष में नहीं हैं।

स्वास्थ्य और चिकित्सा

गांव के अधिकतर परिवार बीमारी को दैवी प्रकोप मानकर इलाज नहीं करवाते हैं। 32 प्रतिशत परिवार मन्दिर में जाकर 'भोपाओं' से इलाज कराते हैं। गांव में एक आयुर्वेदिक औषधालय है। गांव में मुख्य रोग नारु (बाला) है। इस रोग से गांव के 65 प्रतिशत व्यक्ति ग्रस्त हैं। इसके

[शेष पृष्ठ 21 पर]

ग्रामीण विकास एक प्रयोग

डा० शान्तिस्वरूप गुप्ता

पंडित जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में देश से भुखमरी, गरीबी, बेरोजगारी, बीमारी और अज्ञान को तीव्रगति से दूर करने के लिए पंचवर्षीय योजनाएं प्रारंभ की गई थीं। ये योजनाएं लोकतान्त्रिक कही जाती थीं क्योंकि लोकसभा इन्हें स्वीकृति देती थी परन्तु क्या वास्तव में ये लोगों के साधनों, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं पर आधारित थीं? क्या कभी प्रत्येक गांव के प्रत्येक परिवार के साधनों, जीवन-मूल्यों, इच्छाओं आदि का अध्ययन कर इन विकास-योजनाओं को तैयार किया गया था? शायद नहीं। यही कारण है कि देश का आर्थिक विकास तो हुआ परन्तु आज भी अधिकांश गांव और ग्रामवासी पुरानी समस्याओं से मुक्त नहीं हो पाए और कुछ नई समस्याओं ने उनका दामन पकड़ लिया। अतः समय आ गया है कि हम एक ऐसा विकल्प सोचें, जो किसी विदेशी अनुभव पर आधारित न होकर देश की माटी से ही पैदा हो।

ऐसे ही विकल्प का पता लगाने के उद्देश्य से धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़ के अर्थशास्त्र के एक प्रवक्ता के नेतृत्व में अलीगढ़ जनपद के इगलास तहसील के नुनेरा गांव को अध्ययन के लिए चुना गया। यह गांव अलीगढ़-गौंडा सड़क पर अलीगढ़ नगर से लगभग 18 कि० मी० दूर स्थित है। इस गांव में समय-समय पर विभिन्न विभागों के शिक्षक और विद्यार्थी गए और प्रत्येक परिवार से सम्बन्ध स्थापित कर उनके साधनों, जीवन-मूल्यों और इच्छाओं का पता लगाया। इस तरह पूरे गांव के साधनों का सर्वेक्षण हो गया और यह भी पता चल गया कि विभिन्न परिवारों की उनके विचार से क्या-क्या कमियां, आवश्यकताएं और इच्छाएं हैं, जिन्हें पूरा करने से उनके अनुसार उनकी आय बढ़ जाएगी और वे अधिक खुशहाल हो जाएंगे। इस अध्ययन के आधार पर पूरे गांव की चहुंमुखी उन्नति की एक लघु योजना तैयार की जा सकी है। इस योजना को बनाने से अनेकों बातें सामने आई हैं :—

- बहुत कम समय और कम धन से इस पूरे गांव की दशा बदली जा सकती है।
- ऐसी योजना को बनाने और पूरा करने में ग्रामवासियों के स्वप्नों के अनुसार कार्य होने के कारण उनका पूरा सहयोग होगा तथा साधनों का अपव्यय न्यूनतम होगा। बाहरी ज्ञान और सहायता की आवश्यकता न्यूनतम होगी।

अपनी इस बात को कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट करना चाहूंगा। ये उदाहरण विशेष रूप से पिछड़ी जातियों और भूमिहीन वर्ग के लोगों से सम्बन्धित हैं :—

- गांव में कुल 61 परिवारों के पास 95 दूध देने वाले पशु थे जिनमें से कुल 28 दूध दे रहे थे। ये 28 पशु एक माह में लगभग 7798 किलो दूध दे रहे थे, जिसका मूल्य 8246 रु० था। स्पष्ट है कि यदि इस गांव में लगभग 100 गाय और भैंसें और दिलवाई जा सकें और उनके अनाज का भी प्रबंध कर दिया जाए, तो एक-दो वर्षों में दूध की आय से ही इन गाय-भैंसों की लागत को चुकाया जा सकेगा। कहने का अर्थ है कि लगभग 5-6 लाख रु० की लागत से दुग्धशालाओं के माध्यम से बेरोजगार लोगों को रोजगार या किसान को प्रतिदिन की आय का साधन दिया जा सकेगा जिसके लिए किसी भी गांव वाले को कुछ सीखना-सिखाना नहीं पड़ेगा।
- गांव में कुछ धोबियों के परिवार हैं। उनसे पता चला कि उनके पास काम की कमी नहीं है परन्तु साफ पानी का प्रबन्ध न होने से वे गांव के पोखर में कपड़े धोते हैं, साबुन न होने से रेह इस्तेमाल करते हैं जिससे उन्हें काफी मेहनत करनी पड़ती है। कपड़े भी जल्दी फटते हैं और अधिक साफ भी नहीं होते। यदि इन धोबियों को हाथ के नल, एक पत्थर, एक छोटी सी कुंडी और साबुन का प्रबन्ध करा दिया जाए तो इनकी कठिनाइयां दूर हो जाएंगी, कपड़े कम मेहनत से अधिक साफ होंगे और गांव वालों को खुजली या अन्य छूत की बीमारियां भी नहीं होंगी।
- गांव में कुछ दर्जी परिवार हैं। उनके पास भी साधनों की कमी है। अतः वे तैयार कपड़े बाजार में नहीं बेच पाते। यदि किसी तरह उन्हें कपड़े दिलवाए जा सकें और उनके सिले

तैयार कपड़े शहर की दुकानों में बेचने के लिए रखवाए जा सकें तो सबका ही भला होगा।

● गांव के रंगसाज परिवारों ने बताया कि उसके पास पक्के रंग खरीदने के लिए पैसा नही है। उनके पास काम की कमी नहीं होगी यदि उन्हें अच्छे, पक्के और सस्ते रंग उधार उपलब्ध कराए जा सकें। इन लोगों को रंगाई, छपाई आदि के लाभप्रद काम में भी लगाया जा सकता है।

● गांव मे कुछ मोची परिवार भी हैं। इनके पास भी अच्छे चमड़े की कमी है तथा नए तरह के जूते-चप्पल बनाने के ज्ञान का अभाव है। इनके तैयार जूते बूढ़े या पुराने विचारों के ग्रामीण लोग लेते हैं। पर किशोर और युवा पसंद नहीं करते। यदि इनको भी थोड़ा प्रशिक्षण दिलवाया जा सके तथा चमड़े का प्रबन्ध कराया जा सके तो इनकी खुशहाली को तुरन्त बढ़ाया जा सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि गांव के पुराने धन्धों का थोड़ा सा आधुनिकीकरण करने तथा मूल रूप से कच्चा माल जुटाने की व्यवस्था करने से ही गांवों के इन परिवारों की दशा में तुरन्त अन्तर पड़ने लगेगा, जिसका गुणक रूप से प्रभाव पड़ेगा। इसमें धन की भी कम आवश्यकता होगी और यह धन भी तीन वर्षों में वापिस मिल जाएगा।

गांव की दशा सुधारने के लिए कुछ नए धंधे भी दिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए मछली-पालन एक अति लाभ का कार्य है। कोई कारण नहीं कि जिस गांव के पास से नहर निकल रही हो या सिंचाई का समुचित प्रबन्ध हो, वहां छोटे-छोटे व्यक्तिगत तालाब मछली-पालन के लिए विकसित न किए जा सकें। इसी तरह मेंढ़कपालन भी एक लाभ-प्रद धंधा हो सकता है।

गांव में जब ये काम शुरू होंगे तो स्वतः ग्रामवासियों का विश्वास प्राप्त होगा, जिसका उचित प्रयोग कर सामाजिक समस्याओं को भी आसानी से हल किया जा सकेगा। एक उदाहरण देकर अपनी बात को समाप्त करना चाहूंगा।

धर्म समाज कालेज के विभिन्न विभागों के विद्यार्थी और शिक्षक गांव में गए तथा उन्होंने वहां अपने विषय से सम्बन्धित साधनों का सर्वेक्षण किया। इससे विद्यार्थियों को अपने अध्ययन सम्बन्धी जीवन की वास्तविक समस्याओं का पता चला और उन्हें 'कैसे हल करें' की थोड़ी सी अनुभूति हुई। दूसरी तरफ गांव वालों ने इन बच्चों को शंका की दृष्टि से देखा। उन्हें लगा कि अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं की तरह यह भी शायद स्वार्थपूर्ति के लिए आए हैं। पर धीरे-धीरे विश्वास आया और जब कालेज के करीब 100 विद्यार्थी गांव में पड़ाव डालकर सड़कें साफ करने में जुट गए तो दो दिन बाद अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ। गांव वालों ने स्वयं अपनी इच्छा से अपने मकानों के बढ़ाव को काटकर सड़क चौड़ी करने में सहायता दी। घर के बाहर कुण्डी खोदी और पानी सड़क पर न फैलाने का प्रण लिया। इन विद्यार्थियों को घर-घर जाकर प्यार और दुलार के साथ गर्म और स्वादपूर्ण खाने को मिला। विदाई के समय गांव वाले दूर तक छोड़ने आए।

क्या गांव को शिक्षा संस्थाओं से जोड़-कर उनकी चहुंमुखी उन्नति की योजना नहीं बनाई जा सकती है? क्या सरकारी व्यय इन महाविद्यालयों की निगरानी में नहीं कराया जा सकता? यह एक गंभीर चिन्तन का विषय है। □

[पृष्ठ 19 का शेष]

अतिरिक्त मलेरिया, पोलियो आदि प्रमुख हैं। आधुनिक चिकित्सालय डूंगरपुर में है, परन्तु बीमारी बहुत बढ़ जाने पर ही ये लोग अस्पताल में जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के बाद ये सुझाव प्रस्तुत है :

● सिंचित भूमि की कमी है। कुओं में पानी नहीं है। अतः व्यापक स्तर पर भूमिगत जल सर्वेक्षण किया जाए।

● जनजाति के लोगों को साहूकार के चंगुल से मुक्त कराना बहुत आवश्यक है। इसके लिए उन्हें उपभोग ऋण प्रदान किए जाने की आवश्यकता है।

कृषकों को रासायनिक खाद के प्रयोग के संबंध में जानकारी दी जानी चाहिए।

● बच्चों की शिक्षा में प्राथमिक शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था की जाए क्योंकि उच्च शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति देने से कोई लाभ नहीं होगा। जब तक प्राथमिक शिक्षा के लिए सहायता नहीं मिलती तब तक ये बच्चों को कार्य पर भेजते रहेंगे।

● स्कूलों की स्थिति भी खराब है। अध्यापक रुचि नहीं लेते क्योंकि ये व्यक्ति बाहरी होते हैं। अतः गांव के लोगों में से ही शिक्षक नियुक्त किए जाएं। अध्यापक की अनुपस्थिति की समस्या भी हल हो सकेगी। सरकार अधिकाधिक स्कूल खोलकर संख्या बढ़ाने की जगह विद्यमान स्कूलों के वित्तीय और शैक्षणिक स्तर को सुधारने पर ध्यान दे।

● गांव में पीने के पानी व चिकित्सा जैसी समस्याओं को तत्काल हल किया जाए ताकि इस जनजाति के व्यक्ति भी उचित मानवीय दशाओं में जीवन यापन कर सकें

● गांव में नारु रोग की समस्या के समाधान के तुरन्त प्रयास किए जाएं। गांव के लोगों को इस रोग से बचाने के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया जाए। □

कुमारखंड की भंगिमा

प्रेमशीला गुप्ता

गांधी युग से ही हमारे घर में छुआछूत का रिवाज नहीं है---चाहे आदिवासी हों या हरिजन भाई-बहनें या कोई मुसहर-मुसहरिया, सभी बेरोकटोक द्वार के भीतर आ जाते हैं।

मेरा नौकर बसंत इन बातों से चिढ़ता भी है, किन्तु खुलकर कभी उसने किसी को कुछ कहा नहीं न मुझसे ही इन बातों का विरोध जताया।

बसंत एक ग्रामीण युवक है। उसका घर सिताब दियारे के पूर्वी कोने में बांस-फूस, खपड़े से बना है। हमारे यहां तो वह अपनी किशोरावस्था से ही है और धरम-करम की चर्चा ऐसे करता है जैसे कोई साधु-संत हो।

उस दिन चिलचिलाती धूप में भंगिमा अपने सिर पर रंगीन चटाइयों का बंडल उठाए हमारे द्वार पर पहुंची तो मैं लिखने में व्यस्त थी। वह चटाइयों का बंडल दरवाजे पर बिछी चौकी पर रख कर बसंत को पुकारने लगी।

भंगिमा बिहार के सहरसा जिले के कुमारखंड गांव की रहने वाली है। कुमार खंड सहरसा जिलान्तर्गत मधेपुरा से 35 किलोमीटर दूर मुसहरों का इलाका है। ये मुसहर तिरहुतिया कहलाते हैं और हरिजन माने जाते हैं।

दो वर्ष पहले किशोरी दिखने वाली भंगिमा अब जवान हो गई थी। गेहूंए रंग की चिकनी चमड़ी, गले में सस्ते मोतियों की माला, पैरों में मोटे-मोटे छल्ले, कानों में बड़ी सी बाली पहने जब वह चटाई लेकर ऊंची जाति के लोगों की बस्ती में आ जाती तब मनचले युवकों की भीड़ सी लग जाती। कई तो चटाई देखने के बहाने कितनी ही मीठी बातें कर लेते इस कुमारखंड की भंगिमा से।

अपना लिखना खत्म करके मैं चटाई देखने बाहर निकली। यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि सदा धरम-करम, जात-पात पर ऊंचा भाषण देने वाला बसंत भंगिमा के बिल्कुल पास खड़ा होकर उसे पानी दे रहा है।

मुझे देखकर बसंत हट गया और भंगिमा चटाई दिखलाती हुई बोली "इ अहां ले लू मालकिन, अच्छा लगित, हमर बापू अपन हाथ से बनाइले छथिन।"

चटाई की बनावट सचमुच अच्छी थी। मैं एक चटाई लेकर अन्दर चली आई और भंगिमा पैसे लेकर बाहर। किन्तु तब से प्रायः तीसरे-चौथे दिन वह आने लगी।

भंगिमा का बाप यदुनाथ विधुर था। चटाई की अच्छी बुनाई के लए वह सारे कुमारखंड में मशहूर था। भंगिमा के जन्म के समय ही उसकी मां का देहांत हो गया था और अब वह पूरे कुमारखंड के लिए एक सशक्त चुड़ैल के रूप में अपना प्रभाव जमाए हुए है। भंगिमा की मां के मरने के बाद यदु ने अपना दूसरा विवाह करना चाहा था किन्तु कुमारखंड का कोई मुसहर उसे अपनी कन्या देने को तैयार न हुआ। होता भी कैसे भंगिमा की चुड़ैल मां का डर जो था।

यदु ने अपने ऊपर से भंगिमा की मां को हटाने के लिए अपने प्रमुख देवता दीना महरी की पूजा की, जादू टोना भी करवाया, गांगो भगवती के अनुष्ठान के समय खूब दारू, सोठी, मुरही, जनेऊ, छागर, पाठी चढ़ाया किन्तु भंगिमा की मां न हटी। यदु के उपर जब वह सवार हो जाती तब वह घंटों सिर नचाता रहता।

भंगिमा अपने बाप की आज्ञा कभी नहीं टालती चाहे खेत-खलिहान का काम हो या चटाई बनाने का वह छाया की तरह अपने बाप के साथ रहती। यदु भी अपनी इस इकलौती बेटी को कम प्यार नहीं करता था।

अब तो यदु बूढ़ा हो चला किन्तु उसके हट्टे-कट्टे शरीर, बड़ी-बड़ी आंखें देखकर लोग सहमे रहते। इस बुढ़ापे में भी वह कुदाल लेकर धान के कटे खेत में पहुंच जाता तो चूहे के बिल से पसेरी दो पसेरी धान निकाल ही लेता। चूहे के बिल का जैसा अनुमान यदु को है वैसा शायद ही किसी अन्य मुसहर को हो।

भंगिमा और बसंत का मेलजोल काफी बढ़ चुका था। जाने कब बसंत उसे गांव की पैंठ घुमाने ले गया। मुझे तो इस बात की खबर एक दिन मुहल्ले की दूधवाली से मिली। भंगिमा और बसंत इतने घनिष्ठ हो सकते हैं, मुझे इस बात की कल्पना तक न थी।

उस दिन रसोईघर से बसंत को बुलाकर मैंने पूछा—"तुम तो छोटी जाति वालों से घृणा करते थे फिर भंगिमा से इतना मेल कैसे हुआ?"

बसंत थोड़ा सहमा फिर संभल कर बोला—"सभी तो एक भगवान की संतान हैं, फिर भेदभाव कैसा मालकिन?"

बसंत अपनी पंडिताई भूल गया है इस बात से मुझे खुशी हुई, किन्तु साथ ही चिन्ता भी हुई क्योंकि मुसहरों के रहने की व्यवस्था अत्यन्त साधारण होती है—बांस-फूस के बने छोटे-छोटे घर और एक दो खाट तथा अलमुनियम के कुछ बर्तन बस।

हाल ही में सरकार द्वारा मुसहरों को आवासीय सुविधा देने के लिए एक सर्वे का काम प्रारम्भ किया गया है किन्तु अभी भी उनकी आर्थिक अवस्था में कोई खास सुधार नहीं हो पाया है।

भंगिमा के विपरीत बसंत एक खेतिहर घराने का मैथिल ब्राह्मण है, मिडिल तक पढ़ा भी है। उसके परिवार वाले तो मुसहरों का छुआ पानी भी नहीं पीते फिर इस विजातीय विवाह के लिए तैयार कैसे होंगे?

मैं बसंत को समझाने के ख्याल से रसोईघर में गई पर वहां बसंत नहीं था। एक अज्ञात आशंका मन में भर आई और मैं दौड़ी हुई बसंत के कमरे में पहुंची पर द्वार पर ही ठिठक गई। बसंत अपनी अटैची खोले सामान की गिनती कर रहा था—कई रंगीन साड़ियां, झुमके, अंगूठी, टीका सब वह खरीद चुका था।

"बसंत। इस सारे सामान को क्यों खरीदा? क्या तुम्हारी शादी होने वाली है?"

"जी मालकिन।"

"कब?" मैं पूछ बैठी।

"परसों यहीं जानकी मंदिर में।"

"लेकिन तुमने भंगिमा से भी······।"

"हां मालकिन मैं भंगिमा से ही विवाह कर रहा हूं।"

"तुम्हारे घर वाले कब आएंगे?"

"कोई नहीं आएगा मालकिन, मैं विजातीय विवाह करके वंश परम्परा जो तोड़ रहा हूं। उन लोगों ने तो मुझे धमकी भरा पत्र भी लिखा है कि भंगिमा मुसहरनी से विवाह करने के बाद जमीन जायदाद से हिस्सा भी न मिलेगा।"

"तब इस विवाह में कौन-कौन शामिल हो रहे हैं।"

"जी, भंगिमा के पिता, मेरे दोस्त रघु झा, अनन्त लाल, गोविन्द महतो और सुभान भाई . . .आप भी चलेंगी न मालकिन।"

"चलूंगी," कहकर बसंत के कमरे से लौट आई।

विवाह के दिन तो भंगिमा अजब सुन्दर लग रही थी। बसंत ने उसे इस ढंग से सजवाया था कि कोई कह ही नहीं सकता कि भंगिमा मुसहरनी है।

मेरी सहेलियां रोमांटिक मूड में भंगिमा और बसंत से कुछ-कुछ बात करके खिलखिला रही थीं, तभी यदु हंसता हुआ मेरे पास आकर बोला—"अहां आ गेल छी बड़ नीक भेल मालकिन।"

इस शुभ अवसर पर मेरी सखियां यदु को भी नहीं छोड़ना चाहती थीं, सब मिठाई मांगने लगीं। यदु ने उस दिन सबको खिलाया और साधारण ढंग से विवाह सम्पन्न हो गया।

बसंत और भंगिमा विवाह के दिन से अब तक मेरे घर के उसी छोटे कमरे में रह रहे हैं, किन्तु उनका चटाई बनाने का

[शेष पृष्ठ 25 पर]

ग्रामीण विकास और पंचायती राज

श्रीराम तिवारी

गांवों का देश होने के नाते हमारे देश में गांवों की समस्याओं के समाधान और इनके सर्वांगीण विकास के लिए पंचायती राज व्यवस्था अपनाई गई है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत देश के सभी गांवों के लिए 2 लाख 28 हजार से अधिक ग्राम पंचायतें, 5008 प्रखंड समितियां और 405 जिला परिषदें होनी चाहिए किन्तु अभी तक मात्र बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र और पश्चिम बंगाल के राज्यों में ही जिला परिषदें गठित हो सकी हैं।

किसी भी राष्ट्र का समग्र विकास योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाकर ही किया जा सकता है। इस तथ्य को हमारे राष्ट्र के नेताओं ने भलीभांति समझा था और उसके लिए पंचवर्षीय योजनाएं बनाई गई। राष्ट्र के समग्र विकास के लिए अब तक पांच पंचवर्षीय योजनाएं पूरी हो चुकी हैं और अब हम छठी पंचवर्षीय योजना के प्रथम चरण में हैं। किन्तु विगत पांच योजनाओं में ग्रामीण क्षेत्र के विकास का लक्ष्य आंशिक रूप में ही पूरा किया जा सका है। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या पंचवर्षीय योजनाओं में ग्रामीण विकास के लिए निर्धारित सम्पूर्ण राशि का निर्धारित कार्यों के लिए उपयोग हुआ?

ग्रामीण क्षेत्र के विकास में विशेष रुचि रखने वाले पढ़े-लिखे अनुभवी समाज सेवी भी उक्त विषय पर सोचते रहे हैं। उनकी राय में ग्रामीण क्षेत्र के समग्र विकास की दिशा में निम्न तत्व मुख्य रूप से अवरोधक हैं:

- योजनाएं ऊपर से बनती हैं और जिन आंकड़ों के आधार पर योजनाएं बनाई जाती हैं वे आंकड़े अनुमानित अधिक होते हैं और उनकी सच्चाई में अक्सर शंका रहती है। अतः योजनाएं नीचे से बननी चाहिए और आंकड़ों के संग्रह की जिम्मेदारी ग्राम पंचायतों को सौंपनी चाहिए।
- ग्रामीण विकास की योजनाओं के कार्यान्वियन की जिम्मेदारी और निर्धारित साधन सरकारी कर्मचारियों को दिए जाते है, जिनमें से अधिकांश की ग्रामीण विकास के कार्यों में विशेष अभिरुचि नहीं रहती है और जो जनसहयोग प्राप्त करने में प्रायः असफल रहते हैं।
- ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की सरकारी प्रक्रिया बड़ी जटिल और उलझी हुई है जिससे उनका सफल कार्यान्वियन होना कठिन है।
- देश के अधिकांश राज्यों के सम्बद्ध व्यक्ति लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत के प्रति उदासीन हैं और ग्रामीण विकास की जिम्मेदारी प्रायः ग्राम पंचायत, प्रखंड समिति और जिला परिषदों को सौंपनी नहीं चाहते हैं।
- ग्रामीण विकास की जिम्मेदारी मुख्यतः देश की पंचायती राज संस्थाओं पर है। यह पाया गया है कि जिन राज्य सरकारों ने ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों के संचालन की जिम्मेदारी पंचायती राज संस्थाओं को सौंपी है, उनमें अन्य राज्यों की तुलना में विकास के कार्य अधिक हुए हैं। ऐसा गुजरात, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, केरल, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान आदि राज्यों में प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है।

आज देश में ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली कुल जनसंख्या की 54 प्रतिशत जनता गरीबी की रेखा के नीचे का जीवन व्यतीत करती है। आज भी अधिकतर गांव सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक न्याय की समस्याओं से ग्रसित हैं। भयंकर गरीबी, बेरोजगारी, शिक्षा की समस्या, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा की समस्या, आवास, सड़क एवं यातायात, बिजली की रोशनी, सिंचाई की समुचित व्यवस्था की समस्या, महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक समस्या, पौष्टिक आहार की समस्या, शिशु और बच्चों की समुचित शिक्षा की समस्या, छुआछूत, धार्मिक और सामाजिक रूढ़िवादिता, शोषण और बन्धुआ मजदूरी की समस्या, जातिवाद, सामाजिक और आर्थिक विषमता, हरिजनों की समस्या, पेयजल की समस्या, चोरी और डकैती की समस्या, गन्दगी की समस्या, आपसी फूट, मनोरंजन के साधनों का अभाव, ग्रामीण विकास से सम्बन्धित अधिकांश भ्रष्ट कर्मचारियों की समस्या, जनसंख्या की अप्रत्याशित गति से बढ़ने की समस्या आदि विभिन्न समस्याओं से आज ग्रामीण जीवन पीड़ित है। सूखा, ओला, बाढ़, तूफान, दैवी प्रकोप भी अधिकतर ग्रामीण जीवन को ही प्रभावित करते हैं।

दुर्भाग्य की बात है कि देश में ग्रामीण जीवन को हेय दृष्टि से देखा जा रहा है और ग्राम्य जीवन समाज के किसी भी

वर्ग के लिए आकर्षक नहीं रह गया है। गांव के लोग शहरों की तरफ भाग रहे हैं और वे शहरों में गन्दी बस्तियां बना रहे हैं। इस प्रकार इससे शहरी जीवन भी दिनोंदिन प्रभावित हो रहा है।

गांधीजी और पंडित जवाहरलाल नेहरू के विचारों के अनुरूप देश के समग्र विकास के लिए लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत और नीति की दुहाई तो दी जाती है, किन्तु उस पर आस्था और निष्ठा से अमल नहीं होता। अगर देश में लोकतंत्र को अधिक से अधिक मजबूत करना और देश का समग्र विकास करना है तथा शहरों की बढ़ती हुई समस्याओं का भी प्रभावकारी हल निकालना है तो देश के ग्रामीण विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी। गांव के लोगों के लिए उनकी सांस्कृतिक, सामुदायिक भावना की रक्षा करते हुए शहरों में सुलभ सुविधाएं गांवों में जुटानी होंगी। विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत के आधार पर सत्ता की राजनैतिक और आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण करना होगा। समग्र विकास करने का सांस्कृतिक तथा व्यावहारिक ढांचा पंचायती राज व्यवस्था ही हो सकती है। इस सत्य की अनुभूति हमारे महान नेता देश के प्रथम प्रधान मंत्री स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू को 1957-58 में ही हो गई थी और इसीलिए उन्होंने स्व० बलवन्तराय मेहता की रिपोर्ट पर पंचायती राज व्यवस्था देश में स्थापित करने के लिए 2 अक्तूबर 1959 को राजस्थान के नागौर में पंचायती राज की ज्योति जलाई थी। वह ज्योति आज भी बुझी नहीं है। उस पर अनेकों तूफान और आंधी के झोंके आए, किन्तु गांधीजी और नेहरूजी के पुण्य संकल्पों ने उसकी अब तक रक्षा की है।

गांव की पंचायत अपने सभी दायित्व तभी निभा सकती है जब उसके पास समुचित आर्थिक साधन और पर्याप्त शक्ति उपलब्ध हो। उसका लोकतांत्रिक स्वरूप अक्षुण्ण रहे और उसका चुनाव समय पर हो। यह अत्यन्त ही खेद का विषय है कि देश की पंचायती राज संस्थाओं का चुनाव आज भी कुछ राज्यों में 8 से 10 वर्षों से नहीं हुआ है। यह पंचायती राज संस्थाओं के अस्तित्व को ही एक कड़ी चुनौती है तथा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत की अवहेलना है। ऐसी स्थिति में लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए यह अति आवश्यक है कि भारत के संविधान में समुचित संशोधन कर पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया जाए।

अपने दायित्व की जिम्मेदारी पूर्ण ढंग से निभाने के लिए यह भी अति आवश्यक है कि पंचायती राज संस्थाओं के चुने हुए प्रतिनिधियों, ग्रामीण महिला और युवक नेताओं को आवश्यक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था राज्य और केन्द्रीय सरकार की ओर से हो। शिक्षण एवं प्रशिक्षण के द्वारा ही देश की ग्रामीण जनता को राष्ट्रीय और स्थानीय योजनाओं के सफल कार्यान्वियन में प्रभावकारी ढंग से लगाया जा सकता है। इसलिए पंचायती राज संस्थाओं के प्रतिनिधियों, ग्रामीण महिलाओं तथा युवक नेताओं को प्रशिक्षण देने के कार्यक्रम को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए।

एक गांव पंचायत की शक्ति और साधन अपने में सीमित होते हैं। इसलिए यह आवश्यक होगा कि गांव स्तर की सभी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए संबंधित विभागीय साधनों से ग्राम पंचायतों को सहायता अथवा अनुदान प्रदान किया जाए और इन कार्यक्रमों के निष्पादन के लिए पंचायत के निर्देश में कार्य करने वाले पर्याप्त विशेषज्ञ और कर्मचारियों की सेवा भी उपलब्ध कराई जाए।

यह खुशी की बात है कि वर्तमान छठी पंचवर्षीय योजना के प्रथम चरण में ही देश के 5008 प्रखंडों में समग्र ग्राम विकास योजना लागू करने का निश्चय किया गया है, किन्तु इस योजना को सफलता तभी मिल सकती है जब जनता की शक्ति और सामर्थ्य में विश्वास कर योजना के कार्यान्वियन में गांव की पंचायत को अधिकतम जिम्मेदारी सौंपी जाए अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि जन सहयोग के अभाव में समग्र विकास की योजना अपेक्षित उपयोगिता खो बैठे। □

[पृष्ठ 23 का शेष]

व्यवसाय काफी बढ़ चुका है। कई मुसहर-मुसहरनियां ठेके पर उनके यहां चटाई बुनने आते हैं।

कुमारखंड ग्राम को भंगिमा भी नहीं भूल पाई है, कभी-कभी वह वहां घूम भी आती है। एक दिन भंगिमा की जिद पर मुझे भी उसके गांव कुमारखंड जाना पड़ा। स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने दिनों बाद भी इन मुसहरों की दशा अत्यन्त दयनीय है। मुसहरों के इस इलाके में कोई संगठन भी नहीं है जैसा कि आमतौर पर पिछड़ी जातियों में होता है।

पढ़े-लिखे लोगों की संख्या तो इस बस्ती में नहीं के बराबर है। औरतें गरीबी के कारण सादी साड़ियां पहनती हैं और पुरुष लोग गंजी-लुंगी। मवेशी के नाम पर केवल एक-दो बकरियां इक्के-दुक्के मुसहरों के द्वार पर बंधी मिलेंगी।

बसंत के रहन-सहन में परिवर्तन हो रहा है। वह अपने चटाई-व्यवसाय को और बढ़ाना चाहता है। भंगिमा से विवाह करके उसने समाज के सामने एक आदर्श रखा है। सरकारी कोष से भी उसे पांच हजार रुपये का प्रोत्साहन पुरस्कार मिला है जिससे इस दम्पत्ति का भविष्य अधिक उज्जवल नजर आता है। मैं कुमारखंड से लौट आई हूं किन्तु हमेशा इन मुसहरों की दयनीय दशा का ख्याल हो आता है। सोचती हूं कोई ऐसी योजना होनी चाहिए जिससे लघु उद्योगों द्वारा इनकी दयनीय हालत सुधारी जा सके। इन मुसहरों के बीच एक साक्षरता अभियान चलाना भी आवश्यक प्रतीत होता है।

बसंत के घर वाले भले उसे न पूछें किन्तु भंगिमा के साथ बसंत पूर्ण रूप से सुखी जीवन बिता रहा है, ऐसा मैं देखती हूं। दूर-दूर के लोग भंगिमा और बसंत की प्रेम कथा बड़े रोचक ढंग से कहते हैं। और भंगिमा वह तो अब पहले सी भी सुन्दर लगने लगी है। □

पहला सुख निरोगी काया

कुपोषण के कुप्रभाव और उनसे बचाव

बटुकेश्वर दत्त सिंह 'बटुक'

पौष्टिक और संतुलित भोजन न मिलने से बच्चे, जवान, बूढ़े सभी लोगों को तरह-तरह के रोग हो जाते हैं। हमारा दैनिक भोजन पौष्टिक होने के साथ-साथ संतुलित भी होना चाहिए। संतुलित आहार का मतलब है कि वह हमारी पोषण संबंधी दैनिक आवश्यकताओं को उचित मात्रा में पूरा करे। उचित आहार उचित मात्रा में लेने से शरीर को कार्य करने और उसका औसत तापमान बनाए रखने के लिए समुचित ऊष्मा, शारीरिक वृद्धि तथा उसकी दैनिक क्षति-पूर्ति के लिए प्रोटीन तथा शरीर की रोग-व्याधियों से सुरक्षा हेतु विभिन्न विटामिन और खनिज तत्व प्राप्त होते हैं। जब हमारे आहार में निरंतर किसी पोषक तत्व की कमी बनी रहती है तो उसके कुप्रभाव प्रकट होते हैं। आज संसार के विकासशील देशों में ऊंची बाल-मृत्यु दर होने का प्रमुख कारण है—कुपोषण। हमारे देश में भी प्रतिवर्ष अनेक बच्चों की कुपोषण के कारण मृत्यु हो जाती है। बच्चों में ही नहीं कुपोषण के कुप्रभाव सभी आयुवर्गों के लोगों पर स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

पौष्टिक और संतुलित आहार की समुचित व्यवस्था न हो पाने का सीधा संबंध जहां पौष्टिक खाद्य वस्तुओं के कम उत्पादन अथवा उन्हें उपलब्ध कर सकने की सामर्थ्य न होने से है, वहां इसका सबसे बड़ा कारण है लोगों में पोषाहार संबंधी सामान्य व्यावहारिक जानकारी का न होना। अधिकांश लोगों में अपनी तथा अपने परिवार वालों की आहार व्यवस्था के प्रति लापरवाही भी कुपोषण का कारण बनती है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि यदि हम अपनी भोजन संबंधी आदतों में सुधार लाएं तो कुपोषण के कुप्रभावों से काफी हद तक छुटकारा पा सकते हैं।

हमारे भोजन में प्रोटीन का अत्यधिक महत्व है। दैनिक भोजन में प्रोटीन की कमी से बच्चे की शारीरिक बाढ़ रुक जाती है। मानसिक रूप से वह पिछड़ जाता है, उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और वह सुस्त रहता है। उसका जिगर भी बढ़ जाता है और दस्त आते हैं। खून की कमी से उसका शरीर पीला पड़ जाता है, सिर के बाल सूखे, भूरे और बिना चमक के हो जाते हैं, उसकी त्वचा सूखी हुई और फटी सी रहती है। उसके सम्पूर्ण शरीर में सूजन आ जाती है जिसमें अंगुली से दबाने पर गड्ढा जैसा बन जाता है तथा उसके गाल फूले हुए नीचे को लटके रहते हैं।

प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों में प्रोटीन की कमी से शरीर का वजन कम हो जाता है, रक्त की कमी से शरीर पीला पड़ जाता है, रोगों से प्रतिरक्षण की शक्ति कम हो जाती है और पांव तथा पेट में अस्वाभाविक रूप से सूजन आ जाती है। ऐसी दशा गर्भवती स्त्रियों में अधिक होती है। प्रोटीन की कमी से बच्चे को दूध पिलाने वाली स्त्रियों में दूध का निर्माण कम हो जाता है।

प्रोटीन कुपोषण से बचने के लिए शिशुओं को मां का दूध अधिक से अधिक संभव समय पक सुलभ कराया जाए। शाकाहारी बच्चों और गर्भवती और दूध पिलाने वाली माताओं को दूध, दही, मट्ठा, घी निकले दूध का पाउडर आदि में से कुछ न कुछ अवश्य मिले। दैनिक भोजन में दालों का प्रयोग बढ़ाएं। फलियों वाली सब्जियां खाएं। मिली-जुली दालों और मिले-जुले अनाजों तथा उनके साथ हरे पत्ते वाले सागों को मिलाकर प्रयोग करें। दैनिक आहार में मूंगफली, तिल, सोयाबीन आदि को सम्मिलित किया जाए। इसके लिए लोग गांवों में कृषि के अंतर्गत दलहनी और तिलहनी फसलें उगाने को प्राथमिकता दें तथा खेती के साथ पशुपालन, दुग्ध-उत्पादन, कुक्कुट पालन, मत्स्य पालन आदि को बढ़ावा दें। सामिष आहार लेने वाले अपने दैनिक आहार में एक अंडा अवश्य सम्मिलित करें। मांस-मछली थोड़ी मात्रा में ही सही, जो खाते हैं नित्य खाएं जो यदा-कदा और एक साथ अधिक मात्रा में खाने की अपेक्षा कहीं ज्यादा उपयोगी रहेगा।

दैनिक आहार से मानव शरीर के लिए आवश्यक जिन खनिज तत्वों की पूर्ति होनी चाहिए उनमें विशेषतः लोहा और कैलशियम प्रमुख स्थान रखते हैं। लोहा और प्रोटीन से लाल रक्त कण बनते हैं, अतः इनमें से किसी एक या दोनों की साथ-साथ कमी हुई तो शरीर में रक्ताल्पता हो जाती है और वह पीला पड़ जाता है। दैनिक भोजन से प्राप्त पोषक तत्वों में लोहा की कमी न होने पाए इस हेतु हरे पत्तों वाले सागों और मौसमी सहज सुलभ फलों का सेवन किया जाए। बथुआ, पालक, चौलाई, करौंदा, बाजरा, सोयाबीन, तिल, गुड़, राब आदि भोजन में सम्मिलित करें। जो मांसाहारी हों कलेजी और अंडा खाएं। जन्म के उपरांत तीन मास के लिए आवश्यक लोहा गर्भावस्था में शिशु के शरीर में इकट्ठा हो जाता है। यही कारण है कि मां के दूध पर पलने वाले शिशुओं में तीन माह तक तो लोहे की कमी के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते परन्तु चौथे माह से यदि शिशु को मां के दूध के अतिरिक्त फलों के रस, हरे

पत्तों वाले सागों का रस, पका हुआ मसला केला, खूब घुटी हुई खिचड़ी या खीर अथवा पकाई गई दालों का पानी आदि देना प्रारम्भ न किया गया तो उनके स्वाभाविक विकास में बाधा आती है । दूध में लौह की कमी होती है अतः उसका प्रयोग लोहे की कड़ाही में गर्म करके किया जाए । बढ़ते हुए बच्चों को छह मास से अंडे की जर्दी थोड़ी-थोड़ी मात्रा में देनी प्रारम्भ करके एक वर्ष की आयु होने तक उसे पूरे अंडे की जर्दी दी जा सकती है ।

भोजन में कैलशियम और विटामिन-डी की कमी से दांतों और हड्डियों का समुचित निर्माण नहीं हो पाता । बच्चों में इनकी कमी से सूखा रोग हो जाता है । इसमें बच्चे के दांत निकलने में कठिनाई होती है, उसके सिर की हड्डी कोमल बनी रहती है, सीने की हड्डी कबूतर के सीने की भांति बाहर को उभर आती है, पसलियों में गड्ढे पड़ जाते हैं, कलाई तथा टखनों की हड्डियां मोटी हो जाती हैं, पांव की हड्डियां टेढ़ी हो जाती हैं, जिगर बढ़ जाता है, दस्त आते हैं, शरीर की बाढ़ रुक जाती है तथा श्वास क्रिया से संबंधित रोगों की छूत लगने की संभावना बढ़ जाती है। स्त्रियों में विशेषकर गर्भावस्था में यदि कैलशियम और विटामिन-डी की निरन्तर कमी बनी रहती है तो उन्हें पहले हड्डियों में पीड़ा होती है । किन्तु एक बच्चे को जन्म देने के बाद दूसरे प्रसव के अवसर पर यह कठिनाई भीषण रूप धारण कर लेती है और संभवतः उस स्त्री की हड्डियां, विशेषतः जो नितम्ब स्थल से संबंधित होती हैं, इतनी टेढ़ी हो जाती हैं कि वह सीधी नहीं खड़ी हो पाती और इस कारण ऐसा भी हो सकता है कि बच्चा प्राकृतिक रूप से न पैदा हो और स्त्री के पेट का आपरेशन करना पड़े ।

बच्चों तथा माताओं को उपरोक्त कुप्रभावों से बचाने के लिए उनके दैनिक आहार में दूध की किसी न किसी रूप में व्यवस्था अवश्य की जाए । गरीब लोग कैलशियम की पूर्ति के लिए चूने का पानी तथा विटामिन-डी की पूर्ति के लिए मछली के जिगर का तेल सेवन करें। बढ़ते हुए बच्चों को ऊपर के दूध के साथ दो-तीन चम्मच चूने का पानी और पांच से दस बूंदें तक मछली का तेल दिनभर में दें। मछली के तेल को सरसों के तेल में मिलाकर बच्चे के शरीर पर मालिश करें और उसे धूप में लिटाएं । ऐसा करने से सूखा रोग से प्रभावित बच्चे भी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करते हैं । दूध, मक्खन, घी, अंडा, कलेजी, मछली का यथोचित सेवन किया जाए ।

हमारे दनिक आहार में यदि विटामिन-ए की कमी हुई तो आंख संबंधी रोग हो जाते हैं, जिनमें रतौंधी प्रमुख रोग है । विटामिन-ए की कमी से प्रारंभ में आंखों में सूखापन तथा संध्या के समय से कुछ घंटों तक दिखलाई न पड़ना जैसे लक्षण होते हैं । इस विटामिन की अधिक दिनों तक कमी बनी रहने से आंखों के सफेद भाग में तिकोने खुरदुरे फफूंद जैसे धब्बे पड़ जाते है । जब काजल लगाया जाता है तो आंख के सफेद भाग के इन धब्बों पर भी कालापन आ जाता है। जब ये धब्बे सफेद भाग से बढ़कर काली पुतली पर आ जाते हैं तो आंख रोशनी खो बठती है । अपने देश में अंधेपन का एक प्रमुख कारण भोजन में इस विटामिन की कमी है । इस विटामिन की कमी से शरीर की त्वचा पर छोटे-छोटे दाने से उभर आते हैं, जिनमें खुजली रहती है । इसकी कमी से शारीरिक बाढ़ में भी अवरोध आता है और उसमें रोग प्रतिरोधक शक्ति का भी ह्रास हो जाता है ।

विटामिन-ए के कुपोषण से बचाव के लिए हमें अपने दैनिक आहार में मक्खन, घी, अंडा, कलेजी, मछली का तेल, हरे पत्तों वाले सागों और पीले गूदे वाले फलों को सम्मिलित करना चाहिए । गांवों में हर आदमी को सहज-सुलभ आम, पपीता, रसभरी, पीली गाजर, पका कद्दू तथा चना, सरसों, बथुआ, चौलाई, पालक, मेथी, धनिये की पत्ती, घुइयां की पत्तियों, शलजम की पत्तियों, सहजन की हरी कोमल पत्तियों आदि का सेवन करना चाहिए । पोषाहार विशेषज्ञों का मत है कि बढ़ते हुए बच्चों को यदि प्रति छह माह के अंतर पर विटामिन-ए की खुराकें दी जाती रहें तो इसके कुपोषण से बचाव रहता है । इसकी सुविधा प्रत्येक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र पर उपलब्ध रहती है ।

विटामिन-सी मानव शरीर में सीमेंट का कार्य करता है । यह उन पदार्थों का निर्माण करता है जो शरीर में कोषिकाओं के मध्य होते हैं । दैनिक भोजन में इसकी निरंतर कमी बने रहने से स्कर्वी रोग हो जाता है, जिसके कुप्रभाव इस रूप में प्रकट होते हैं: शारीरिक दुर्बलता तथा चिड़चिड़ापन, त्वचा के नीचे रक्तस्राव, मसूड़ों में सूजन व पिचपिचा होना तथा उनसे रक्त बहना, घावों तथा हड्डियों की टूट का देर से भरना, रक्तहीनता तथा रोगों की छूत से बचाव में कमी, हड्डियों तथा दांतों का कमजोर रहना तथा शरीर के जोड़ों में सूजन तथा पीड़ा । ये सभी प्रभाव विटामिन-सी की काफी समय तक कमी बनी रहने से होते है । प्रारम्भिक कमी में तो मसूड़ों की सूजन तथा घावों का देर से भरना प्रमुख लक्षण हैं ।

दनिक भोजन में विटामिन-सी की कमी से होने वाले रोगों से बचाव के लिए आंवला, अमरूद, नींबू, संतरा, मुसम्मी जैसे ताजा फलों का सेवन करें । केवल एक आंवला या नींबू अथवा आधा अमरूद दिन भर के लिए विटामिन-सी देता है ।

बी-समूह के विटामिनों की कमी अधिकांश लोगों के भोजन में पाई जाती है। इनकी कमी से आमतौर पर लोगों की पाचनशक्ति खराब हो जाती है, खुलकर भूख नहीं लगती, शरीर में सुस्ती भी रहती है, काम करने को मन नहीं करता तथा थोड़ा सा काम करने पर ही अधिक थकावट आ जाती है । ये लक्षण अधिकतर उन क्षेत्रों के लोगों में पाए जाते हैं, जो पालिश किए हुए अरवा चावल का प्रयोग करते हैं। इनसे बचाव के लिए सेला चावल खाया जाए । अनाजों और दालों को अंकुरित करके प्रयोग करें। खमीर उठे व्यंजन खाएं । मूंगफली और तिल का सेवन करें । दालें खाएं तथा मांसाहारी लोग कलेजी और अण्डे का सेवन दैनिक आहार में करें । इनसे थायमिन अर्थात विटामिन बी-1 समुचित मात्रा में मिलेगा और उपरोक्त कष्ट नहीं होंगे ।

जिस भोजन में दूध, गोश्त, हरे साग आदि की कमी होती है तो उसका प्रयोग करने से बी समूह का विटामिन 'रायबोफ्लेबिन' नहीं मिलता, जिसे विटामिन बी2 भी कहते हैं । इस विटामिन की कमी से मुंह, होंठ, जबान आदि पर छाले पड़ना, मुंह के कोनों का फट जाना, नाक व कान के पास त्वचा का खुरदरा होकर फट जाना, आंखों में

[शेष पृष्ठ 30 पर]

केन्द्र के समाचार

भूमिहीन मजदूरों के लिए आवास

ग्रामीण इलाकों में भूमिहीन कृषि मजदूरों को मुफ्त आवास स्थलों के आवंटन की योजना केन्द्रीय क्षेत्र के कार्यक्रम के रूप में अक्तूबर 1971 में शुरू की गई थी। इस योजना के तहत केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों को आवास स्थलों के अधिग्रहण पर होने वाले खर्च को पूरा करने के लिए 100 प्रतिशत और इसके साथ ही प्रत्येक आवास स्थल को विकसित करने के लिए 150 रु० अनुदान के रूप में दिए।

यह योजना 1974 में राज्य क्षेत्र के अधीन कर दी गई थी। इसे न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम का अंग बनाया गया और 1975 में इसे 20-सूत्री कार्यक्रम में शामिल कर लिया गया। पांचवीं योजना में इसके लिए 55 करोड़ रु० का प्रावधान था।

1976 में इस योजना का ग्रामीण क्षेत्र के सभी भूमिहीन मजदूरों, कारीगरों जैसे बढ़ई और लोहार आदि तक विस्तार कर दिया गया। इसके साथ ही प्रत्येक आवास स्थल को विकसित करने में खर्च की सीमा मैदानी इलाकों के लिए 300 रु० तक और पहाड़ी इलाकों में 500 रु० तक बढ़ा दी गई। अद्यतन जानकारी के अनुसार 119 लाख परिवारों में से 77.72 लाख परिवारों को आवास-स्थलों का आवंटन किया जा चुका है।

शुरू में इस योजना के तहत केवल विकसित आवास-स्थल ही आवंटित किए जाते थे। यह आशा की गई थी कि इस सुविधा को प्राप्त करने वाले परिवार, राज्य सरकार की किसी अन्य योजना के तहत या स्वैच्छिक संगठनों से सहायता प्राप्त करके स्वयं इन आवास स्थलों पर मकान बनाने में समर्थ होंगे। राज्य सरकारें इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ दूसरी योजनाओं के तहत सहायता प्रदान कर रही थीं। समय के साथ-साथ अगले वर्षों में इस योजना के क्षेत्र को और विस्तृत कर दिया गया।

छठी योजना (1980-85) के दौरान आवास-स्थल-सह-आवास निर्माण योजना के अन्तर्गत सभी ग्रामीण भूमिहीन परिवारों को आवास सुविधाएं उपलब्ध करा दी जाएंगी। ऐसा अनुमान है कि अगले पांच वर्षों में आवास सहायता प्राप्त करने के योग्य परिवारों की संख्या 23 लाख और बढ़ जाएगी और इस प्रकार उनकी कुल संख्या लगभग 1.45 करोड़ हो जाएगी। इनमें से 78 लाख परिवारों को आवास-स्थलों का आवंटन किया जा चुका है। लगभग 2 लाख परिवार अपने प्रयत्नों अथवा सरकार के प्रयत्नों से मकान बनाने में सक्षम हैं। इस प्रकार अब केवल 67 लाख परिवारों को आवास-स्थल आवंटित किए जाने हैं। जहां तक मकान बनाने के लिए सहायता देने का प्रश्न है, लगभग 90 लाख परिवारों को यह सुविधा प्राप्त करानी पड़ेगी क्योंकि उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार निजी और स्वैच्छिक प्रयत्न लगभग इस दिशा में 25 प्रतिशत सहायक सिद्ध हुए हैं। संक्षेप में 67 लाख परिवारों को आवास-स्थल-सह-आवास निर्माण योजना के अन्तर्गत दोनों ही प्रकार की सहायता की आवश्यकता होगी और लगभग 23 लाख परिवारों को केवल आवास-निर्माण के लिए सहायता की जरूरत होगी। 1985 तक देश के समस्त ग्रामीण भूमिहीन लोगों को इस योजना के अन्तर्गत आवास सुविधा उपलब्ध करा दी जाएगी।

बन्धुआ मजदूरों का कल्याण

बन्धुआ मजदूर ग्रामीण गरीब लोगों का एक कमजोर वर्ग है। उनमें अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोग अधिक हैं।

बन्धुआ मजदूर ऋण लेने के कारण कुछ समय के लिए या पूरे जीवन भर के लिए ऋणदाता की दासता स्वीकार करता है। कुछ मामलों में दासता का यह क्रम पिता से लेकर पुत्र तक चलता है। लिए गए ऋण के बदले में मनुष्य या तो स्वयं को या अपने परिवार के किसी सदस्य को ऋणदाता के यहां बन्धक के रूप में रखता है और उनकी मुक्ति ऋण का भुगतान करने पर ही होती है। तब तक उस व्यक्ति या उसके परिवार के सदस्यों को ऋणदाता के यहां प्रतिदिन के भोजन के बदले में काम करना पड़ता है। वहां से उसे कोई नकद भुगतान नहीं मिलता, अतः अपनी मुक्ति के लिए आवश्यक धन जुटाने के लिए उसे परिवार के किसी सदस्य पर निर्भर करना पड़ता है और इस प्रकार की सहायता बहुत कम मिल पाती है।

कमजोर वर्ग के लोगों के शारीरिक और आर्थिक शोषण को रोकने के लिए 25 अक्तूबर 1975 से बन्धुआ मजदूर प्रथा को पूरे देश में वैधानिक रूप से समाप्त किया जा चुका है। बन्धुआ मजदूर उन्मूलन अधिनियम, 1976 के तहत अपराध करने वालों के लिए सजा और जुर्माने का प्रावधान है। बन्धुआ मजदूरी का उन्मूलन और उनकी स्थापना 20-सूत्रीय कार्यक्रम का एक हिस्सा था।

बन्धुआ मजदूर उन्मूलन अधिनियम, 1976 और इसके तहत बनाए गए कानूनों को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए प्राथमिक उत्तरदायित्व राज्य सरकारों का है। राज्य सरकारों ने जिला न्यायाधीशों को आवश्यक अधिकार प्रदान किए हैं और जिला एवं उपमंडलीय स्तर पर वैधानिक सतर्कता समितियां गठित की गई हैं।

राज्य सरकारों से बन्धुआ मजदूरों को शीघ्रता से मुक्त कर पुनःस्थापित करने के लिए आवश्यक और प्रभावी कदम उठाने का अनुरोध किया गया है। उन्हें कहा गया है कि वे मुक्त किए गए बन्धुआ मजदूरों को वर्ष 1981-82 के अन्त तक पुनः स्थापित करें। राज्य सरकारों से प्राप्त रिपोर्टों के अनुसार इस वर्ष 31 अक्तूबर तक 1,20,561 बन्धुआ मजदूरों का पता लगाकर उन्हें मुक्त किया गया। इनमें से लगभग 25,000 को पुनः स्थापित करने का कार्य अभी शेष है।

बन्धुआ मजदूरों के पुनर्स्थापन के लिए राज्य सरकारों द्वारा जो प्रयास किए जा रहे हैं उन्हें और तेज करने के लिए केन्द्र ने छठी योजना में 25 करोड़ रुपये की एक योजना शामिल की है, जिसके अन्तर्गत राज्य सरकारों की उक्त कार्य के लिए 50 प्रतिशत अनुदान दिया गया है। यह सहायता मुक्त बन्धुआ मजदूरों को 4,000 रुपये प्रति व्यक्ति के हिसाब से दी गई है। कृषि उपकरण एवं निवेश, दुधारू पशु, मुर्गी, बकरियां, भेड़ जैसे आय के साधन की आर्थिक इकाइयों के रूप में यह सहायता दी गई है। बढ़ईगीरी तथा अन्य हस्त कौशल पर आधारित व्यवसायों के लिए औजार एवं उपकरण के रूप में सहायता दी गई है। 18,600 लोगों को केन्द्रीय सहायता का लाभ मिल चुका है।

अनुसूचित जाति विकास

अनुसूचित जातियों के आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को साधारणतया पिछड़े वर्गों के कल्याण कार्यक्रमों के रूप में जाना जाता है। यह देखा गया है कि विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा अनुसूचित जातियों को होने वाले लाभ के मार्ग में बाधा डालने वाली सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह है कि पात्रता की शर्तें विशिष्ट जरूरतों के अनुकूल नहीं होती हैं।

उपरोक्त तथा अन्य सभी कठिनाइयों को दूर करने के लिए अनुसूचित जाति बहुल राज्यों में अनुसूचित जाति विकास निगमों का गठन किया गया है। इन निगमों की जिला स्तर पर सहायक शाखाएं हैं। जिलाधीश या जिला उपायुक्त या जिला मजिस्ट्रेट एक समिति या यूनिट का अध्यक्ष होता है और इसमें सभी सम्बन्धित विभागों, धन देने वाले संस्थानों के तथा अन्य प्रतिनिधि शामिल होते हैं।

अनुसूचित जाति विकास निगम के वित्तीय संसाधनों को बढ़ाने के लिए केन्द्र सरकार ने केन्द्र द्वारा आयोजित एक योजना चलाई है ताकि राज्यों को निगमों में अधिक पैसा लगाने में सहायता मिल सके। केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों द्वारा अनुसूचित जाति विकास निगमों को सहायतार्थ दी गई राशि में केन्द्र का अनुपात 49:51 है।

अनुसूचित जाति विकास निगम अनुसूचित जातियों और विभिन्न क्षेत्रीय कार्यक्रमों के बीच एक कड़ी का कार्य करते हैं और इनके बीच महत्वपूर्ण मुद्दों पर हुए मतभेदों को दूर करते हैं तथा उनको वित्तीय स्रोत से मिलने वाली सहायता का उपयुक्त हिस्सा दिलाने में मदद करते हैं। इस प्रकार ये निगम बड़े पैमाने पर अनुसूचित जातियों की आर्थिक स्थिति में सुधार के कारण बन गए हैं।

अनुसूचित जाति विकास निगमों से अनुसूचित जातियों के आर्थिक विकास के लिए निम्नलिखित पहलुओं पर ध्यान देने को कहा गया है :—

राज्य स्तर पर पर्याप्त धन जुटाया जाना चाहिए। राज्यों में विभिन्न क्षेत्रों और व्यावसायिक समूहों में अनुसूचित जातियों के लिए बनाई गई परिवारोन्मुख योजनाएं उपयुक्त और व्यवहार्य हों। छोटे किसान विकास अभिकरणों, मझोले किसान, खेतिहर मजदूर योजनाओं के अनुभव का लाभ उठाया जाना चाहिए।

बड़ी संख्या में योजनाएं शुरू करने की बजाय निगमों को कुछ चुनी हुई योजनाओं पर ध्यान देना चाहिए और उन्हें बड़े पैमाने पर सफलता के साथ क्रियान्वित करना चाहिए। क्षेत्र के स्तर पर जिला और बैंकों का उपयुक्त और प्रभावी सम्पर्क होना चाहिए।

अनुसूचित जाति विकास निगमों को अपने कार्यक्रम चलाते हुए केन्द्र और राज्य सरकारों के चालू कार्यक्रमों का ध्यान रखना चाहिए और जहां तक सम्भव हो अनुसूचित जातियों को लाभ पहुंचाना चाहिए।

छोटे किसानों के लिए गोदाम

छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान राष्ट्रीय, राज्य, जिला और गांव स्तर पर भंडारण निर्माण का एक विस्तृत कार्यक्रम शुरू करने का प्रस्ताव है। पूरे देश में विशेष रूप से छोटे और मझौले किसानों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गोदामों की श्रृंखला तैयार की जाएगी।

केन्द्रीय कृषि और ग्रामीण पुनर्निर्माण मंत्री राव वीरेन्द्र सिंह ने कहा कि 1985 के अन्त तक ग्रामीण इलाकों में 20 लाख टन भंडारण की क्षमता स्थापित की जाएगी। इन गोदामों के निर्माण के परिणामस्वरूप छोटे और मझौले किसानों को भंडारण की सुविधा के अभाव में लाचार होकर खाद्यान्नों की असमय बिक्री नहीं करनी पड़ेगी। फसल कटते ही ये किसान पैसे की आवश्यकता के कारण तुरन्त फसल बेचने पर मजबूर हो जाते हैं। कटाई के तुरन्त बाद फसल की कम दामों पर बिक्री होती है। बिचौलिये इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाते हैं। कुछ बिचौलियों से किसानों ने कर्ज भी लिया होता है। ऐसे बिचौलिये फसल कटते ही किसानों पर उसे बेचने के लिए दबाव डालते हैं। मंत्री महोदय ने कहा कि यदि किसान अपनी उपज को इन गोदामों में, जहां वैज्ञानिक रूप से भंडारण की व्यवस्था होगी, रखने में समर्थ होंगे तो इस प्रवृत्ति को बहुत दूर तक रोका जा सकेगा। उन्होंने कहा कि किसानों की नकद रकम की आवश्यकताओं को, उन्हें व्यापारिक बैंकों द्वारा ऋण दिलवाकर पूरा किया जाएगा, जो उन्हें अपनी गोदामों की रसीद दिखाकर मिल सकेगा।

पूरे देश में ग्रामीण गोदामों की स्थापना करने से फसल की कटाई के बाद होने वाले खाद्यान्नों के नुकसान को कम करना सम्भव हो सकेगा। राव वीरेन्द्र सिंह ने यह भी बताया कि गोदामों की 50 प्रतिशत लागत केन्द्र और राज्य सरकारें देंगी। बाकी 50 प्रतिशत राशि वित्तीय संस्थानों से ऋण के रूप में ली जाएगी। ग्रामीण गोदामों के साथ ही प्रशीतन भंडारण की सुविधाएं भी उपलब्ध कराने का भी प्रावधान है। 200 से लेकर 1000 टन भंडारण क्षमता वाले गोदाम इस योजना के अन्तर्गत बनाए जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी प्रस्ताव है कि प्रत्येक ग्रामीण श्रमिक सहकारी समिति की स्वयं भी अपनी भंडारण क्षमता होनी चाहिए। अगले पांच वर्षों के दौरान सहकारी क्षेत्र में प्रति वर्ष पांच लाख टन भंडारण क्षमता जोड़ी जाएगी। भारतीय खाद्य निगम की वर्तमान भंडारण क्षमता 221.81 लाख टन है। छठी पंचवर्षीय योजना के दौरान इसकी भंडारण क्षमता में 45.64 लाख टन की वृद्धि करने का प्रस्ताव है। इस अवधि के दौरान केन्द्रीय

गोदाम निगम और राज्य गोदाम निगमों की भंडारण क्षमता 41.20 लाख टन और बढ़ाई जाएगी।

रबी की बुआई के लिए बिजली

केन्द्रीय ऊर्जा मन्त्री श्री ए० बी० ए० गनी खान चौधरी ने राज्यों के मुख्य मन्त्रियों को एक पत्र में कहा है कि किसानों को रबी की बुआई के लिए अधिकतम बिजली सप्लाई की जाए तथा कृषि और लघु क्षेत्र को बिजली की कटौती से मुक्त रखा जाए। उन्होंने चालू परियोजनाओं को समय पर पूरा करने पर भी बल दिया।

ग्रामीण विद्युतीकरण निगम से भी उचित बिजली सप्लाई व्यवस्था बनाए रखने को कहा गया है ताकि किसानों को किसी प्रकार की असुविधा न हो।

श्री गनी खान चौधरी ने राज्यों से कहा है कि वे यह सुनिश्चित करें कि ग्रामीण विद्युतीकरण के लाभ किसानों तक पहुंचें और उन्हें प्रतिदिन कम से कम छह से आठ घंटे बिजली अवश्य मिलती रहे।

इस दिशा में प्रगति भी देखने में आई है। उत्तर प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों को प्रतिदिन छह से दस घंटे तक बिजली सप्लाई की जा रही है। राज्य विद्युत बोर्डों को निर्देश दिए गए हैं कि खराब ट्रांसफार्मरों को तुरन्त बदल कर नए ट्रांसफार्मर लगाए।

ग्रामीण क्षेत्र में विद्युतीकरण के काम को गति प्रदान करने के लिए ग्रामीण विद्युतीकरण निगम का पुनर्गठन किया जा रहा है।

रोजगार के अवसर

ग्रामीण रोजगार के अवसर पैदा करने के लिए ग्रामीण पुर्ननिर्माण मंत्रालय समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, काम के बदले अनाज कार्यक्रम, सूखा बहुल क्षेत्र कार्यक्रम, मरु क्षेत्र विकास कार्यक्रम जैसी योजनाओं को लागू कर रहा है। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के प्रत्येक खंड में ऐसे 400 परिवारों का निर्धारण किया जाता है और एक वर्ष के भीतर उन्हें गरीबी की रेखा से ऊपर लाने के लिए सहायता दी जाती है। इससे अलग खडों में प्रति वर्ष गांव के 40 युवकों को देहाती क्षेत्रों के लिए महत्व रखने वाले तकनीकी कामों का प्रशिक्षण दिया जाता है। उन्हें अपने काम चलाने के लिए अन्य प्रकार की सहायता भी दी जाती है जिससे उन्हें एक महीने में कम से कम 300 रु० की आय हो सके।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम लघु कृषक विकास एजेंसी, सूखा बहुल क्षेत्र कार्यक्रम और कमान क्षेत्र विकास क्षेत्रों के 2000 खंडों और इन एजेंसियों के क्षेत्र से बाहर 900 खंडों में चलाया जा रहा है। प्रतिवर्ष 300 नए खंडों को कार्यक्रम के अन्तर्गत लाकर इस कार्यक्रम का विस्तार किया जा रहा है। ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत रोजगार पैदा करने के सम्बन्ध में मानक निर्धारित करने के उद्देश्य से सितम्बर के मध्य में दो दिन की एक कार्यशाला का भी आयोजन किया गया था। □

(पृष्ठ 27 का शेष)

लाली और रोशनी में कमी आदि के लक्षण प्रकट होते हैं। इनसे बचाव के लिए दूध का किसी न किसी रूप में अवश्य प्रयोग किया जाए। दैनिक भोजन में हरे पत्तों वाले सागों और दालों का उपयोग बढ़ाया जाए। कुक्कुटपालन को बढ़ावा मिले तथा आहार में अंडे की खपत बढ़ाएं।

मक्का और ज्वार में बी-समूह का विटामिन नायसिन कम पाया जाता है। इसे विटामिन बी 3 भी कहते हैं। जिन क्षेत्रों में लोग मक्का और ज्वार के भोजन पर ही निर्भर होते हैं उनमें 'पेलेग्रा' नाम का रोग हो जाता है। इस रोग में मुंह में छाले पड़ना, जबान का लाल होना, हाथों, पांवों तथा चेहरे पर त्वचा का खुरदरा, लाल और फिर काला पड़कर एक जैसे दोनों ओर साथ-साथ चकत्तों का उभरना, मानसिक शिथिलता, रक्त की कमी आदि के लक्षण पाए जाते हैं। इन कुप्रभावों से बचने के लिए अंकुरित अनाजों तथा दालों का प्रयोग करें, सेला चावल खाएं तथा चावल का मांड़ न निकालें। मूंगफली और तिल का प्रयोग बढ़ाएं तथा अनाज को सम्पूर्ण अवस्था में खाएं, खमीर उठे हुए आटे का प्रयोग करें। मांसाहारी लोग कलेजी, गुर्दा तथा मछली का सेवन करें।

बी-समूह के अन्य प्रमुख विटामिन हरे पत्तों वाली सब्जियों, अनाजों के अंकुरों तथा उनकी ऊपरी परत, कलेजी, अंडा आदि में पर्याप्त पाए जाते हैं। इनकी दैनिक भोजन में कमी हुई तो शरीर में रक्त कणों का निर्माण ठीक से नहीं होता और 'एनीमिया' अर्थात रक्ताल्पता की विशिष्ट दशाएं उत्पन्न होती हैं। अतः हम अपने आहार में इन खाद्य पदार्थों को भी सम्मिलित करते रहें। बच्चों तथा गर्भवती और धात्री माताओं को फोलिक एसिड के साथ आयरन (लोहा) की गोलियां एनीमिया रोग से बचाव हेतु दी जानी चाहिए। ये गोलियां मातृरक्षा तथा शिशु कल्याण केन्द्रों पर निःशुल्क सुलभ की जाती ह। □

साहित्य समीक्षा

भाग्य की बलिहारी : लेखक : लक्ष्मी निवास बिड़ला, प्रकाशक : सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या : 116, मूल्य 5 रुपये ।

लोक कथाएं लोक जीवन की विविध और रंगीन झांकी प्रस्तुत करने के साथ-साथ हमारे इतिहास के महत्वपूर्ण प्रसंगों, मान्यताओं, आदर्शों और कमजोरियों को भी प्रकट करती हैं। भारत में लोककथाओं की परम्परा बहुत पुरानी है। भारतीय मनीषियों के लिए कथाएं सत्य को प्रकट करने, स्पष्ट करने का माध्यम एवं साधन रहीं हैं। उन्होंने इस विधा का उपयोग बहुत कुशलता और चतुराई के साथ किया है। सहस्र रजनी चरित्र और ईसप की कहानियों और अनेक भारतीय कहानियों की कथा वस्तु, सीख और नतीजों में अद्भुत समानता है। कुछ विद्वानों का तो कहना है कि वास्तव में भारतीय कहानियों ने ही पश्चिम एशिया और यूरोप पहुंच कर उन देशों में कहानी कहने की प्रथा शुरू की थी।

सस्ता साहित्य मंडल ने लोक कथा पुस्तक माला के अंतर्गत देश के विभिन्न क्षेत्रों की लोककथाओं को प्रकाशित करके एक बड़े अभाव को पूरा करने का प्रयत्न किया है। राजस्थान की लोककथाओं से संबंधित प्रस्तुत पुस्तक उसी माला की एक कड़ी है। लेखक ने बड़ी सावधानी, सहानुभूति एवं सूझ-बूझ से इस पुस्तक की कहानियों को चुना है। रणबांकुरों की धरती राजस्थान का नाम मात्र वीरता और शौर्य के कारनामों की स्मृतियां जगा देता है। वीर किंतु निष्कपट, सच्चे किंतु भोले-भाले राजपूत हंसते-हंसते अपने प्राण न्योछावर कर देते हैं। उनके कोश में असंभव और कठिन शब्दों के लिए स्थान नहीं है। अन्य लोक कथाओं की भांति, ये कहानियां भी अपने क्षेत्र की जनता की इच्छाओं, आकांक्षाओं के सरल मनोहारी ढंग से प्रकट करती हैं।

इन कहानियों में जादू-टोना है, असंख्य विरोधियों को बाहु-बल और बुद्धि चातुर्य से पराजित करके सुन्दर राजकुमारियों का वरण करने वाले बांके, सजीले राजकुमार हैं। अपनी सूझ-बूझ और बुद्धि की सहायता से जटिल परिस्थितियों से निपटने वाली सुकुमार सुन्दर राजकुमारियां हैं, शत्रुओं का पता लगाने में निपुण कुशल मीना हैं, तंत्र मंत्र जानने वाले ब्राह्मण हैं, हवा में उड़ने वाले उड़न खटोले हैं, डाकिनें हैं, ऐसी रानियां हैं जिनके प्राण मैना में बसे हैं, स्वामी के इशारे पर जान न्योछावर करने को तैयार बहादुर चोर हैं, पराजय और अपमान का बदला लेने वाली भूतों की सेना है, संकेतों की भाषा में बात करने वाली "फूला दे" और अतीव साहसी "कन्दर दे" हैं। पुस्तक की भाषा सरल और शैली रोचक है। एक बार पुस्तक हाथ में लेने के बाद उसे पूरी किए बिना छोड़ने को मन नहीं करता। □

नवीन चन्द्र पन्त

पशुओं की प्राणघातक बीमारियां और उनका इलाज : लेखक : डा० डी० एन० पांडे, प्रकाशक : सुलोक प्रकाशन, गुरुधाम, वाराणसी, पृष्ठ संख्या : 84, मूल्य : 5 रुपये ।

आज की औद्योगिक होड़ में भी भारत ग्रामीण जनता का ही प्रतिनिधित्व करता है। ग्रामीणों की सबसे बड़ी पूंजी उसका पशुधन ही है। इसी धन के बल-बूते पर वह अपने परिवार का पालन-पोषण किया करता है। किन्तु पशुओं के रोगों के बारे में वह अज्ञानी है। यह सही है कि इन दिनों गांव-गांव में पशु रक्षा केन्द्र और पशु चिकित्सालयों की सुविधाएं उपलब्ध हैं। फिर भी, हमारे किसानों को पशुओं के नित्य नए-नए रोगों के बारे में पूरी जानकारी की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण जनता को पशुओं के हर प्रकार के रोगों की जानकारी और रोग मुक्ति के उपाय बतलाना है। पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें सरल भाषा में सभी रोगों के नाम, कारण, मौसम, लक्षण, पहचान और चिकित्सा विधियां आदि बतलाई गई हैं। गला घोटू, जहरी बुखार, पशु-प्लेग, अफारा, खांसी, घाव आदि अनेक रोगों पर अनुभवी लेखक ने वैज्ञानिक विधियां लिखी हैं। लेखक ने अलग से पशु-रोग और उनके उपचार को भी तालिका के रूप में दिया है। रोग, औषधि, मात्रा, सेवन विधि तथा औषध निर्माता कंपनियों के नाम भी दिए गए हैं।

हमारा ग्रामीण समुदाय आज भी गरीबी से जूझ रहा है। उसके पास इतने पैसे नहीं होते कि वह अपना इलाज करवा सके। इस पुस्तक में लेखक ने 'आपका अपना स्वास्थ्य' शीर्षक के अंतर्गत प्राथमिक चिकित्सा के उपायों को भी लिखा है। प्रत्येक घर में किन-किन औषधियों को रहना चाहिए, उनका प्रयोग किस विधि से किया जाना चाहिए, इस पर पूरा प्रकाश डाला गया है। डाक्टर के आने से पूर्व ही इन उपायों के द्वारा जीवन की रक्षा की जा सकती है। ग्रामीण जन-जीवन और उसके पशु-धन से संबंधित यह पुस्तक निश्चय ही महत्वपूर्ण सिद्ध होगी। कम पढ़े-लिखे ग्रामीण भी इस पुस्तक का उपयोग कर दैनिक रोगों से छुटकारा पा सकते हैं। इस प्रकार की पुस्तकों का हमारे ग्राम्य जीवन में खूब प्रचार-प्रसार होना चाहिए। □

शीतांशु भारद्वाज

एवरेस्ट की कहानी : लेखक : मेजर हरिपाल सिंह अहलूवालिया, प्रकाशक: राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृष्ठ संख्या: 154, मूल्य: 20 रुपये ।

"एवरेस्ट की कहानी" एक पर्वत की कहानी नहीं बल्कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के मनुष्य के शौर्य की गाथा भी है। एवरेस्ट की खोज और उसके बाद उस पर विजय प्राप्त करने के असाधारण साहसिक प्रयत्नों को मेजर हरिपाल सिंह अहलूवालिया ने इस पुस्तक में दिया है।

एवरेस्ट एक साधारण पर्वत मात्र नहीं बल्कि विश्व की सबसे ऊंची चोटियों से भी ऊंचा है। इसकी खोज 1849 से 1855 तक की गई और इसका नाम सर्वेक्षण विभाग के अध्यक्ष सर जार्ज एवरेस्ट के नाम पर रखा गया। सबसे पहले 1953 में एवरेस्ट पर मनुष्य ने विजय प्राप्त की। 1921 से लेकर अब तक 42 बार इस चोटी पर चढ़ने का प्रयास किया गया। भारत के 7 पर्वतारोही एवरेस्ट पर पहुंचे जो अब तक का कीर्तिमान है। इतनी संख्या में एक साथ अब तक किसी देश का पर्वतारोही दल एवरेस्ट पर नहीं पहुंच पाया है। 57 वर्षों में पर्वतारोहियों के केवल 13 अभियान दल ही सफल हुए जिनमें 2 महिलाओं सहित 56 व्यक्ति थे।

मेजर अहलूवालिया की यह पुस्तक ऐतिहासिक और भौगोलिक खोजों का एक जीवंत दस्तावेज है, जिसमें एवरेस्ट की कहानी से लेकर टोह लगाने के प्रयत्न और आरंभिक अभियान से 1975 की शरद् ऋतु में किए गए ब्रिटिश अभियान तक का चित्रण किया गया है।

यह पुस्तक 17 अध्यायों में विभाजित है। अंतिम तीन अध्यायों में पर्वतारोहण की मानव जिज्ञासा, पर्वतारोहण संबंधी शब्द और हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली दी गई है। एवरेस्ट अभियानों के पुराने और दुर्लभ चित्रों ने पुस्तक को सजीव बना दिया है।

यह पुस्तक पर्वतारोहण करने वालों और पर्वतारोहण में रुचि रखने वालों के लिए महत्वपूर्ण है। पर्वतारोहण के रोमांचक अभियानों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। □

देवेन्द्र उपाध्याय

नंगा रुक्खः लेखक: ओ० पी० शर्मा सारथी, अनुवादक: अशोक जेरथ, प्रकाशक : राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृष्ठ संख्या: 84, मूल्य: 12 रुपये ।

साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत डोगरी उपन्यास का यह अनुवाद अपनी मूल कृति के इतना निकट है कि हिन्दी जगत के लिए भी यह प्रतीकात्मक शैली का अनूठा उपहार बन गया है, जो हर दृष्टिकोण से यथार्थ के संदर्भों का जीवंत चित्रण करता है। इस अनुवाद से हिन्दी में जहां इस प्रकार की कृतियों का अभाव पूरा होता दिखाई देता है वहां डोगरी भाषा के सर्वोच्च साहित्य की जानकारी भी प्राप्त होती है। प्रकाशक का प्रयास और अनुवादक की योग्यता दोनों उल्लेखनीय हैं।

आज का मशीनी दौर, सामाजिक तथा व्यक्तिगत स्तर पर जिस तरह गुजर रहा है, प्रगति के नाम पर दिखावे की योजनाओं तथा कार्यक्रमों की ओट में हर वर्ग का व्यक्ति क्या-क्या मुखौटे धारण करता है, क्या-क्या पापड़ बेलता है और फिर भी सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में कोई कार्य सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं करता, इन सब पहलुओं पर लेखक ने अपनी सांकेतिक शैली में केवल प्रयास या प्रयोग से कहीं आगे जाकर अपनी सफलता का सिक्का जमा दिया है। इस तरह के शैली प्रयोग में आम तौर पर देखा गया है कि अधिकतर उपन्यासकार अपनी प्रतीकात्मक कलाबाजियों में ही उलझ कर रह जाते हैं। परिणाम यह होता है कि न तो पाठक के कुछ पल्ले पड़ता है और न ही लेखक के चिन्तन का कोई स्पष्ट रूप सामने आता है।

यह उपन्यास दो पड़ोसियों की जीवन यात्रा के कुछेक दिनों के वर्णन द्वारा आज के समान विडम्बनाओं, स्वार्थपूर्ण आकांक्षाओं, कुंठाओं आदि का विश्लेषण ऐसी भाषा में करता है जो हम सबकी बोली है। लेखक ने यथार्थ का बड़ा सक्षम चित्रण किया है और उसकी शैली में हास्य-व्यंग्य का मन को छूनेवाला पुट भी देखने को मिलता है। इस कृति का स्वागत, विशेषकर गंभीर पाठकों द्वारा अवश्य होगा। □

राम प्रकाश राही

बंदर बांट : लेखक : डा० बच्चन, प्रकाशक : राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृष्ठ संख्या: 24, मूल्य : 5 रुपये ।

समीक्ष्य पुस्तक "बंदर बांट" 9 बाल गीतों और एक बाल नाटिका का मनोरम संग्रह है, जिन्हें सुप्रसिद्ध कवि बच्चन जी ने अपनी पकती और ढलती उम्र में बचपन की ओर देखते हुए लिखा है। वैसे 'बंदर बांट' एक मुहावरा बन चुका है जिसका अर्थ है—दो के झगड़े में तीसरे को लाभ होता है। बच्चन जी शायद जीवन के इस कटु सत्य को प्रस्तुत गीतों द्वारा अपने पौत्र-पौत्रियों को बताना और सिखाना चाहते हैं, जो एक भारतीय दादा के लिए सर्वथा सहज और स्वाभाविक है। पुस्तकाकार प्रकाशन से सभी बच्चों को यही सिखाने का उनका उद्देश्य और भी अधिक व्यापक बन गया है।

इस पुस्तक में संगृहीत सभी 9 गीत बाल मनोवृत्ति के अनुरूप हैं और बच्चों के मन को मोहने के लिए अच्छे उदाहरण हैं। किंतु 'बंदर बांट' शीर्षक की उपयुक्तता अखरती है, क्योंकि 'बंदर बांट' एक नाटिका है जिसमें गद्य और पद्य का मिश्रित प्रयोग है।

प्यासा कौआ, कछुआ और खरगोश, खट्टे अंगूर, लालची बंदर आदि कविताओं को पढ़कर जहां बालक तन्मय होकर झूमने लगता है, वहीं उसे इनसे कुछ सीख भी मिलती है। बाल गीतों की सार्थकता का सबसे सबल प्रमाण भी यही होता है। □

डा० शान्ति प्रकाश वर्मा

रोहिणी

हमने छोड़ा नया उपग्रह 'रोहिणी'
लगा रहा नभ में धरती की परिक्रमा,
इसके पहले 'आर्यभट्ट' और 'भास्कर'
ने बांधा वैज्ञानिक महफिल में समां।
उपयोगी संदेश मिलेंगे शान से
देश लाभ के पथ पर बढ़ता जाएगा,
खोजें होंगी नई-नई हर क्षेत्र में
नई सफलताओं का वैभव छाएगा।

शिक्षा, खेती, खनिज और उद्योग के
अनगिन पहलू चमक उठेंगे ढंग से,
क्योंकि 'रोहिणी' के संकेतों को लेंगे
श्रद्धापूर्वक टेलीविजन उमंग से।
धन्य हमारे हैं वैज्ञानिक वे सभी,
जो समाज के लिए परिश्रम कर रहे,
तभी दूर-संचार हमारा खिल रहा
वे आविष्कारों से खुशियां भर रहे।
यही 'रोहिणी' उनके श्रम का दूत है
लीन हुआ है जो अपने कर्तव्य में,
नहीं रहेगा पीछे कभी किसी भी पल
यह अपने शुभ रचनात्मक मंतव्य में।

जगदीश चन्द्र शर्मा

श्रम की बूंद

श्रम की बूंद जहां पर गिरती
वह नन्दन हो जाता है,
यह ऐसा पारस है जिससे
लोहा कंचन हो जाता है।
जिनकी आंखों में विकास के
दृश्य ले रहे अंगड़ाई,
वे तब ही साकार बनेंगे
जब भू पर जागे तरुणाई।
नई सुबह छा जाएगी।
नई जिन्दगी गाएगी।
जो भी कर्म महान समझता
वह मन चन्दन हो जाता है।
जिनके अधरों पर मरुथल का
बैठ गया निश-दिन पहरा,
मनुज दर्द का उनके उर में
भाव उमड़ता है गहरा।
फसलें नई उगाना है।
सुख के सुमन खिलाना है।
जिसकी वाणी निश्छल फूटे
वह स्वर वन्दन हो जाता है,
प्रतिमा को जो करे समर्पण
वह सब पूजन हो जाता है।

मोहन जोशी 'मस्ताना'

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा
प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित

नैसर्गिक सुषमा

RN 70
P&T Regd. No. D(DN
Licensed Under U (D)-
Post without per-payment at Civil Lines Post Office,